ॐ नमः परमात्मने ।

श्रीसन्न्यासगीता ।

भाषानुवाद और टिप्पणी सहित ।

भारतधर्ममहामण्डल के शास्त्रप्रकाश
विभाग द्वारा श्रीविश्वनाथ अन्नपूर्णा-
दानभंडार के लिये प्रकाशित ।

काशी

बी. एल्. पावगी द्वारा
हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, में मुद्रित ।

श्रीविश्वनाथो जयति ।

श्रीसन्न्यास गीता

का

विज्ञापन ।

वैदिक सिद्धान्तों की सारभूत अनेक गीताएं पूज्यपाद महर्षियोंने जगत् के कल्याणर्थ प्रकाशित की हैं । श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीसप्तशती गीता (दुर्गा) ये दोनों जगत्प्रसिद्ध गीताएं श्रेष्ठ उपनिषद् स्वरूप हैं। वेदोक्त अध्यात्म रहस्य की प्रकाशक श्रीभगवद्गीता और अधिदैव रहस्यकी प्रकाशक श्री सप्तशती गीता है । ये दोनों गीताएँ कुछ विशेष अधिकार रखनेवाली हैं । इन दोनों गीताओं पर अपूर्व भाष्य श्रीभारतधर्ममहामण्डल शास्त्र प्रकाश विभाग द्वारा प्रणयन हो रहे हैं । श्रीभगवद्गीता के भाष्य का हिन्दी अनुवाद छपना प्रारम्भ भी होगया है ।

इन दोनों गीता शास्त्रों के अतिरिक्त सात और गीताएँ ऐसी हैं कि जिनका हिन्दी अनुवाद और टिप्पणी सहित प्रकाशित होना और सब धर्म जिज्ञासुओं को उनका अध्ययन करना परम आवश्यक है। विष्णु उपासना की श्रीविष्णुगीता, सौर उपासना की श्रीसूर्यगीता, शक्ति उपासना की श्रीदेवीगीता, गाणपत्य उपासना की श्रीगणेश गीता, शैव उपासना की श्रीशिवगीता, सब वर्ण, सब आश्रमोपयोगी श्रीगुरुगीता और सन्न्यास आश्रमोपयोगी सन्न्यासगीता इस प्रकार से ये सप्त गीताएं विशेष लोकहितकर हैं । इनमें से अनुवाद और टिप्पणी सहित श्रीगुरुगीता पहिले ही प्रकाशित हो चुकी है। श्रीसन्न्यासगीता यह प्रकाशित हो रही है और अन्यान्य गीताएं क्रमशः प्रकाशित होगीं ।

श्रीसन्न्यास गीता द्वादश अध्यायों में विभक्त है । इसमें साधारण धर्म, दानधर्म, तपधर्म, यज्ञधर्म, कालधर्म आदि के साथ साधु सन्न्यासियों के सब अधिकार भेद और विस्तारित धर्म वर्णित होने

श्रीविश्वनाथो जयति ।

श्रीसन्न्यास गीता

का

विज्ञापन ।

वैदिक सिद्धान्तों की सारभूत अनेक गीताएं पूज्यपाद महर्षियोंने जगत् के कल्याणर्थ प्रकाशित की हैं । श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीसप्तशती गीता (दुर्गा) ये दोनों जगत्प्रसिद्ध गीताएं श्रेष्ठ उपनिषद् स्वरूप हैं। वेदोक्त अध्यात्म रहस्य की प्रकाशक श्रीभगवद्गीता और अधिदैव रहस्यकी प्रकाशक श्री सप्तशती गीता है । ये दोनों गीताएँ कुछ विशेष अधिकार रखनेवाली हैं । इन दोनों गीताओं पर अपूर्व भाष्य श्रीभारतधर्ममहामण्डल शास्त्र प्रकाश विभाग द्वारा प्रणयन हो रहे हैं । श्रीभगवद्गीता के भाष्य का हिन्दी अनुवाद छपना प्रारम्भ भी होगया है ।

इन दोनों गीता शास्त्रों के अतिरिक्त सात और गीताएँ ऐसी हैं कि जिनका हिन्दी अनुवाद और टिप्पणी सहित प्रकाशित होना और सब धर्म जिज्ञासुओं को उनका अध्ययन करना परम आवश्यक है। विष्णु उपासना की श्रीविष्णुगीता, सौर उपासना की श्रीसूर्यगीता, शक्ति उपासना की श्रीदेवीगीता, गाणपत्य उपासना की श्रीगणेश गीता, शैव उपासना की श्रीशिवगीता, सब वर्ण, सब आश्रमोपयोगी श्रीगुरुगीता और सन्न्यास आश्रमोपयोगी सन्न्यासगीता इस प्रकार से ये सप्त गीताएं विशेष लोकहितकर हैं । इनमें से अनुवाद और टिप्पणी सहित श्रीगुरुगीता पहिले ही प्रकाशित हो चुकी है। श्रीसन्न्यासगीता यह प्रकाशित हो रही है और अन्यान्य गीताएं क्रमशः प्रकाशित होगीं ।

श्रीसन्न्यास गीता द्वादश अध्यायों में विभक्त है । इसमें साधारण धर्म, दानधर्म, तपधर्म, यज्ञधर्म, कालधर्म आदि के साथ साधु सन्न्यासियों के सब अधिकार भेद और विस्तारित धर्म वर्णित होने

से यह ग्रन्थरत्न केवल चतुर्थ आश्रम धारी साधु सन्न्यासियों के लिये ही परम हितकारी नहीं, परन्तु सब वर्ण और सब आश्रम के लिये इस ग्रन्थ का अध्ययन करना परम लाभदायक है । गृहस्थ गण को तो इस ग्रन्थ रत्न से विविध ज्ञान प्राप्त हो सकता है ।

आजकल के साधु सन्न्यासियों में जो अनेक मत भेद, जो अनेक पन्थ भेद, जो अनेक सम्प्रदाय भेद, जो अनेक आचार भेद और जो अनेक विचारभेद देखने में आते हैं, उनका समन्वय करके शान्ति और पारस्परिक विरोध दूर करने के लिये यह ग्रन्थ रत्न परम उपयोगी है । निवृत्ति सेवी चतुर्थ आश्रम का अनुकरण करने वाले जितने प्रकार के साधु सन्न्यासी आदि हैं वे निरपेक्ष और आस्तिक बुद्धि से इस ग्रन्थ रत्नका स्वाध्याय करने से अपने अपने अधिकारानुसार आध्यात्मिक उन्नति करने में समर्थ होंगे इसमें सन्देह नहीं । वर्ण गुरु ब्राह्मण और आश्रम गुरु सन्न्यासी हैं । इस कारण ब्राह्मण वर्ण के सन्न्यासिगण ब्राह्मणादि सब वर्ण के स्वभाविक गुरु और नेता हैं इसमे अणुमात्र मत भेद नहीं है । सर्वमान्य सर्वसम्मत नेता सन्यासियों को सहायता देने योग्य उनके अधिकारों का निर्णायक और उनका मार्गप्रदर्शक होने से यह ग्रन्थ रत्न सन्न्यासी मात्र के लिये परम आदर और नियमित स्वाध्याय के उपयोगी है । इस ग्रन्थ रत्न का प्रचार जितना अधिक होगा, उतना ही हिन्दु समाजका कल्याण है ।

आजकलके नवशिक्षित लोग साधु सन्न्यासी मात्र के ऊपर विरुद्ध कटाक्ष करते हैं और वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि साधु सन्न्यासी हिन्दू समाज के गलग्रह और वृथा भारस्वरूप हैं । यद्यपि ऐसी विरुद्ध भावनाओं के उत्पन्न करने में आज कल के साधु सन्न्यासियों का कुछ दोष अवश्य है परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसी चिन्ता करने वाले बिलकुल निर्दोष हैं । साधु सन्न्यासी गण समाज में अपना अधिकार भूल रहे हैं, सन्न्यास धर्मोक्त कर्म उपासना ज्ञानकी साधन प्रणाली वे विस्मृत हो गये हैं और सन्न्यासाश्रम का प्रधान धर्म निष्काम व्रत की आवश्यकता उनके स्मृति पटल से उठ ही गई है । दूसरी ओर आज कल के नव शिक्षित गृहस्थ गण आर्य जाति के इस सिद्धान्त को भूल ही गये हैं

कि पूज्य पाद महर्पियों के विचारानुसार साधुसन्न्यासी ही सब वर्ण और आश्रम के स्वाभाविक गुरु हैं और वेही हिन्दुसमाज के स्वाभाविक और चिरमान्य नेता हैं और हो सकते हैं। क्योंकि वसुधा को अपना कुटुम्ब मानना, सर्वलोक हितकर होना और जगत् के हितार्थ आत्मसमर्पण करना निष्काम व्रत परायण साधुसन्न्यासी के लिये ही सम्भव और सहज साध्य है। यह ग्रन्थ रत्न इन दोनों प्रकार के अधिकारियों की शङ्काओं के समाधान करने और दोनों को यथावत् इस विषय में मार्ग प्रदर्शित करने में सर्वथा उपयोगी है।

श्रीमहामण्डल के नियमानुसार शास्त्र प्रकाश विभाग की जिम्मेवरी और व्ययादिक का भार श्रीभारतधर्म महामण्डल के सञ्चालक पूज्यपाद श्री १०८ श्री स्वामीजी महाराज तथा अन्यान्य साधुओं पर सौंपा गया है। और पुस्तक विक्री की आमदनी निराश्रय दरिद्रों की सेवा के लिये श्री विश्वनाथ अन्नपूर्णा दानभण्डार को सौंपी गई है। उसी नियमानुसार इस पुस्तक का स्वत्त्वाधिकार उक्त दान भण्डार को दिया गया है। इस ग्रन्थ के प्रकाशित करने का व्यय खैरीगढ़ राज्येश्वरी परम धार्मिका गुरु भक्ति परायणा भारतधर्म लक्ष्मी श्रीमती सुरथ कुमारी देवी ने प्रदान किया है। श्रीमती को श्रीविश्वनाथ दीर्घायु करें और उनका यह आदर्श अन्यान्य नरपति वर्ग और राजकुल महिलाओं का अनुकरणीय हो।

निवेदक

गोविन्द शास्त्री दुगवेकर

सहकारी अध्यक्ष श्रीभारत धर्म महामण्डल,

शास्त्र प्रकाश विभाग, जगतगंज, बनारस।

श्रीसन्न्यासगीता
की
विषयानुक्रमणिका ।

प्रथम अध्याय ।

द्वितीय अध्याय ।

तृतीय अध्याय ।

सप्तम अध्याय।

अष्टम अध्याय।

नवम अध्याय।

ॐ नमः श्रीसच्चिदानन्दाय ।

श्रीसन्न्यासगीता

(भाषानुवाद और टिप्पणी सहित ।)

अनाद्यनन्तवैराजलीलैश्वर्यविभावन !
देशकालाऽपरिच्छिन्न ! जयस्वामिञ्जयोऽस्तु ते ॥ १ ॥
नमामि जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयकारणम् !
सर्वात्मानं परैश्वर्य्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥ २ ॥
कर्मसाक्षिन् ! भक्तचित्तविहारिन् ! भूतभावन !
सर्वबुद्धिप्रेरकत्वात् स्मृतो लोके जगद्गुरुः ॥ ३ ॥
प्रार्थयामि ततो देव ! कृपया प्राणिनां धियः ।
जगत्कल्याणैकहेतुज्ञानमार्गे प्रवर्तय ॥ ४ ॥
प्रयागे नैमिषारण्ये विशालायां त्रिपुष्करे !
गङ्गासरस्वतीतीरे नर्मदायास्तटे तथा ॥ ५ ॥

जो श्रीभगवान् आदि अन्त रहित विराट् सृष्टि लीलारूप ऐश्वर्य्य के सञ्चालक हैं, जो देशकाल से अपरिच्छिन्न हैं और जो सकल अभ्युदय और निःश्रेयस के कर्म्मों में जय प्रदान करनेवाले हैं उनकी जय हो ॥ १ ॥ जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय के कारणरूप, सर्व्वात्मा, परमैश्वर्य्यवान् और वाणी और मन से अगोचर श्रीभगवान् को प्रणाम करता हूं ॥ १ ॥ हे कर्म्मों के साक्षीरूप ! हे भक्तों के चित्त में विहार करनेवाले ! हे भूतभावन ! आपकी सत्ता से सब चराचर सत्तावान् हैं, आपही सब प्राणियों की बुद्धि के प्रेरक हैं इस कारण आप जगद्गुरु कहे जाते हैं ॥३॥ अतः हे देव ! प्रार्थना यह है कि जगत् के कल्याण का एकही उपायरूप जो ज्ञानमार्ग है उसकी ओर प्राणि-मात्र की बुद्धियों को कृपापूर्वक प्रेरणा करिये ॥ ४ ॥ प्रयाग में, नैमिषारण्य में, उज्जयिनी में, त्रिपुष्कर में, गंगा, सरस्वती, नर्मदा,

तापीगोदावरीरेवायमुनागण्डकीतटे ।
हरिद्वारे कुरुक्षेत्रे तीर्थेष्वन्येष्वपि स्वयम् ॥ ६ ॥
ऋषयो मुनयः सिद्धा महात्मानश्चरन्ति यत् ।
तज्जगन्मङ्गलायेति निश्चितं तत्त्वदर्शिभिः ॥ ७ ॥
सन्तः कारुणिका नित्यं तीर्थव्याजेन सङ्गताः ।
दुष्कृतानि व्यपोहन्ति दिव्यज्ञानोपदेशिनः ॥ ८ ॥
नानाशास्त्रकथाख्यानकथनश्रवणादिभिः ।
उद्धरन्ति जनान् सर्वान् पावयन्ति परस्परम् ॥ ९ ॥
तस्मात्सर्वात्मना नूनं सङ्गं कुर्वीत साधुभिः ।
सर्वोपकारनिरताः सन्तः संसारतारकाः ॥ १० ॥
अस्ति वै नैमिपारण्यं सुप्रसिद्धं तपोवनम् ।
ऋषिभिर्मुनिभिर्जुष्टमनेकाश्रमशोभितम् ॥ ११ ॥
रसालैः सालहिन्तालैः प्रियालैश्च प्रियङ्गुभिः ।
तालैस्तमालैर्मन्दारैर्नागपुन्नागचम्पकैः ॥ १२ ॥

तापी, गोदावरी, यमुना और गण्डकी के तट पर, हरिद्वार में, कुरुक्षेत्र में और अन्य तीर्थों में भी ऋषि, मुनि, सिद्ध और महात्मा स्वयं विचरण करते हैं वह उनका विचारना जगत् के जीवों के मङ्गल के अर्थ है ऐसा तत्त्वदर्शियों ने निश्चय किया है ॥ ६-७ ॥ सत्पुरुष दयालु हैं वे तीर्थस्नान के व्याज (वहाने) से सम्मिलित होकर दिव्यज्ञान का उपदेश करते हुए नित्य ही पापों का नाश करते हैं ॥ ८ ॥ वे अनेक शास्त्रों की कथा और व्याख्यानों के कथन और श्रवणादि से सब मनुष्यों को उद्धार करते हैं और एक दूसरे को पवित्र करते हैं ॥ ९ ॥ इस कारण सर्व्वतोभावेन अवश्य ही सत्सङ्ग करना चाहिये क्योंकि सकल जीवों के उपकार में तत्पर महात्मा ही संसारसमुद्र से पार करनेवाले हैं ॥ १० ॥ नैमिपारण्य नामक सुप्रसिद्ध तपोवन है जो ऋषि और मुनियों से सेवित है एवं जो अनेक आश्रमों से शुशोभित है । जो कल्पवृक्ष समान समृद्धिवाले और दिव्य पुष्प, फल एवं पत्रवाले आम, साल, हिन्ताल, प्रियाल, प्रियङ्गु, ताल, तमाल, मन्दार, नाग,

द्राक्षेक्षुरम्भाजम्बूभिः कल्पवृक्षसमृद्धिभिः ।
पनसाश्वत्थन्यग्रोधैः पूगैः किंशुकचन्दनैः ॥ १३ ॥
कुन्दैः कुरवकैर्नीपैर्दिव्यपुष्पफलच्छदैः ।
द्रुमैः कामदुघैरन्यैः प्रपूर्णञ्चाऽतिशोभनम् ॥ १४ ॥
मनोज्ञकुसुमामोदनानावीरुद्विराजितम् ।
मल्लिकामाधवीजातिवासन्तीभिः सुमण्डितम् ॥ १५ ॥
सरित्सरोभिरच्छोदैर्लसद्रुचिरवालुकैः ।
कुमुदोत्पलकल्हारशतपत्रादिशोभितैः ॥ १६ ॥
हंससारसकादम्बचक्रारब्धकलस्वनैः ।
गुञ्जद्भ्रमरझङ्कारनादितैः समलङ्कृतम् ॥ १७ ॥
फलमूलाशनैर्दान्तैश्चारुकृष्णाजिनाम्बरैः ।
सूर्यवैश्वानरसमैस्तपसा भावितात्मभिः ॥ १८ ॥
महर्षिभिर्मोक्षपरैर्यतिभिर्नियतेन्द्रियैः ।
ब्रह्मभूतैर्महाभागैरुपेतं ब्रह्मवादिभिः ॥ १९ ॥

पुन्नाग, चम्पा, दाख, ईख, केला, जम्बू, पनस, अश्वत्थ, न्यग्रोध, सुपारी, किंशुक, चन्दन, कुन्द, कुरबक, नीप और कामफलप्रद अन्य वृक्षों से पूर्ण और सुशोभित है ॥ ११-१४ ॥ जो सुन्दर पुष्पों की सुगन्धि-वाली अनेक विस्तृत लताओं से विराजित है और मल्लिका, माधवी, जाति और वासन्ती लताओं से सुमण्डित है ॥ १५ ॥ जो स्वच्छ जल वाले, चमकीली सुन्दर बालुकावाले, कुमुद, कमल कल्हार और शतपत्रादि से सुशोभित, हंस सारस कादम्ब और चक्रवाकोंकी गम्भीर चहचहाट से युक्त एवं गूँजते हुए भँवरेके झङ्कारसे निनादित नदी और तालावोंसे समलङ्कृत है । जो फल और मूल भक्षण करनेवाले, तप के क्लेश को सहन करनेवाले, सुन्दर कृष्ण मृगचर्म के वस्त्रवाले, सूर्य्य और अग्नि के समान तेजस्वी, तप के द्वारा आत्मसाक्षात्कार करनेवाले, इन्द्रियसंयमी, मोक्ष में तत्पर, ब्रह्मवादी, ब्रह्मस्वरूप, संयमशील, महाभाग महर्षियों से युक्त है । जो जलमात्र पान करनेवाले, वायुमात्र पान करनेवाले, पत्ते घास

अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च पर्णाहारैस्तथैव च ।
चीरवल्कलसंवीतैः सर्वदाऽध्युषितं शिवम् ॥ २० ॥
अदंशमशकं रम्यमनालोकितदुर्जनम् ।
अश्रुताधिव्याधिदुःखमवितर्क्यतपःफलम् ॥ २१ ॥
यत्र सिंहादयो हिंस्रा अपि सौहृदमास्थिताः ।
निर्वैराः क्रौर्यनिर्मुक्ताश्चरन्त्येणैश्च गोकुलैः ॥ २२ ॥
शकुन्ता यत्र दृश्यन्ते मधुरस्वरगायनाः ।
ऋषिघुष्टाः सामगीतीर्गायन्ति शुकसारिकाः ॥ २३ ॥
तत्रैकदा पुण्यदेशे नैमिषे कल्मषद्विषि ।
समवेता महात्मानः सिद्धा ब्रह्मर्षिसत्तमाः ॥ २४ ॥
नाना तपःप्रदेशेभ्य आश्रमेभ्यश्च सर्वतः ।
तीर्थेभ्यो विविधेभ्यश्च प्रयता लोकपावनाः ॥ २५ ॥
सशिष्याः साग्नयः शान्ता पश्यन्तो वनमुत्तमम् ।
पावयन्तो जनान्मार्गे समाजग्मुः कृपालवः ॥ २६ ॥

खानेवाले, कौपीन और वल्कल धारण करनेवाले महर्षियों से सर्वदा अधिष्ठित और मङ्गलकर है ॥ १६-२० ॥ जो डांश और मच्छरों से रहित व मनोहर है, दुर्जनों ने जिसको देखा नहीं है । आधि, व्याधि और दुःख जहां सुने भी नहीं गये हैं। जहां के तप का फल अनुमान नहीं किया जा सक्ता है। जहां सिंहादि हिंस्र पशु भी गौ और मृगों के साथ मैत्री स्थापन करके निर्वैर हो क्रूरता से रहित होते हुए विचरण करते हैं। शकुन्त जहां मधुरस्वर से गायन करते दिखाई देते हैं और शुक एवं सारिकाएँ जहां ऋषियों के द्वारा गाये हुए सामवेद के गान को गाती हैं ॥ २१-२३ ॥ उस पापनाशक पुण्य देश नैमिषारण्य में एकबार लोकपावन, शान्त, संयमशील, ब्रह्मर्षि श्रेष्ठ, कृपालु, सिद्ध महात्मा चारों ओर के नाना तपः प्रदेशों से और आश्रमों से तथा विविध तीर्थों से चलकर अग्निहोत्र और शिष्यों को साथ लिए हुए, मार्ग में मनुष्यों को पवित्र करते हुए और उस उत्तम वन को देखते हुए आये ॥ २४ ॥ २६ ॥

अल्पज्ञान् प्राणिनः सर्वान् सत्सङ्गेनोद्दिधीर्षवः ।
तीर्थयात्राप्रसङ्गेन भूमौ सन्तश्चरन्ति हि ॥ २७ ॥
स्नाताः कृतार्चनाश्चर्षिदेवपितृर्पितर्पणाः ।
तत्रैवोपुः कियत्कालं ते कथालापनिर्वृताः २८ ॥
दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते मुनयः शंसितव्रताः ।
तत्रैकदा पर्यटन्तः समैक्षन्तैकमाश्रमम् ॥ २९ ॥
वलिहोमार्चितं दिव्यं सुसंमृष्टानुलेपनम् ।
शुष्यच्छामाकनीवारं वेदिभिश्च विराजितम् ॥ ३० ॥
विशालैरग्निशरणैः स्रुग्भाण्डैराचितं शुभैः ।
दिव्यपुष्पोपहारैश्च सर्वतोऽभिविराजितम् ॥ ३१ ॥
शरण्यं सर्वभूतानां ब्रह्मघोषनिनादितम् ।
दिव्यमाश्रयणीयं तमाश्रमं श्रमनाशनम् ॥ ३२ ॥
प्रविशन्तः परं प्रीताः सर्व एव महर्षयः ।
ज्ञानोपदेशलाभाय पर्याप्तं मेनिरे स्थलम् ॥ ३३ ॥

क्योंकि सब अल्पज्ञानी प्राणियों को सत्सङ्ग द्वारा उद्धार करते हुए ही तीर्थ यात्रा के प्रसङ्ग से इस पृथिवी पर सत्पुरुष विचरण किया करते हैं ॥ २७ ॥ स्नान भगवदर्चन एवं देवता ऋषि और पितरों का तर्पण करके कथा वार्ता कहते हुए कुछ समय तक उन्होंने वहीं निवास किया ॥ २८ ॥ वहां एक दिन दिव्यज्ञानसम्पन्न व्रताचार-तत्पर उन मुनियों ने भ्रमण करते हुए एक आश्रमको देखा। जो वलि और हवन के द्वारा सुशोभित, देवभवनतुल्य और अत्यन्त परिष्कृत है। जिसमें श्यामाक और नीवार सूख रहे हैं, जो वेदियों से सुशोभित है, ॥ २९ ॥ ३० ॥ विशाल अग्निकुण्ड, और शुभ स्रुवा एवं पत्रों से सुशोभित दिव्य पुष्पों के उपहार से चारों ओर समावृत, सकल प्राणिमात्र का शरण्य, वेदघोष से निनादित, श्रमनाशन, आश्रय करने योग्य उस दिव्य आश्रम में परम प्रसन्न उन सबही महर्षियों ने प्रवेश किया। और ज्ञानोपदेश प्राप्त करने के लिये उस स्थान को पर्य्याप्त समझा ॥ ३१-३३ ॥

तदैवोपस्थितं तत्र याज्ञवल्क्यं महामुनिम् ।
सूर्यतेजप्रतीकाशं सर्वशास्त्रविशारदम् ॥ ३४ ॥
धर्मधर्माङ्गतत्त्वज्ञं वेदवेदाङ्गपारगम् ।
कर्मज्ञानोपासनार्घ्यसूक्ष्मतत्त्वावमर्शिनम् ॥ ३५ ॥
जितेन्द्रियं योगपरं मुनिवृन्दनिषेवितम् ।
यदृच्छया पर्यटन्तं दृष्ट्वा मुमुदिरे भृशम् ॥ ३६ ॥
अथाऽतिपूताः सुप्रीता मुनयो दिव्यदृष्टयः ।
भक्त्या प्रणामान् कुर्व्वाणाः समन्तादुपतस्थिरे ॥ ३७ ॥
चक्रिरे तस्य सत्कारं विधिनाऽऽसनसंस्थितम् ।
उपाजह्रुश्च सलिलं पुष्पमूलफलं शुचि ॥ ३८ ॥
गृहीतार्घ्यं ततः प्रीतं तं मुनिं ब्रह्मवादिनम् ।
विनयावनताः सर्वे सादरञ्चेत्थमूचिरे ॥ ३९ ॥
त्वद्दर्शनेन पूताः स्मः कृतकृत्या बभूविम ।
वयमत्र महाभाग ! करुणावरुणालय ! ॥ ४० ॥

वहां उसी समय सूर्य्य के तेज के समान तेजस्वी, सर्व्वशास्त्रविशारद, धर्म्म और धर्म्माङ्गों के तत्त्व को जाननेवाले, वेद और वेदाङ्गों के पारङ्गत, कर्म्म, ज्ञान और उपासना के पूजनीय सूक्ष्म तत्त्वों के विचार करनेवाले ॥ ३४-३५ ॥ जितेन्द्रिय, योगनिष्ठ, मुनिवृन्दों के द्वारा सेवित और अपनी इच्छा से ही पर्यटन करनेवाले उपस्थित महामुनि याज्ञवल्क्य के दर्शन करके अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ ३६ ॥ इसके अनन्तर अत्यन्त पवित्र, सुप्रसन्न. दिव्यदृष्टि मुनिगण भक्ति पूर्वक प्रणाम करते हुए चारों ओर खड़े हुए ॥ ३७ ॥ और आसन पर बैठे हुए महर्षि याज्ञवल्क्य का विधिपूर्वक सत्कार किया । एवं पवित्र जल, पुष्प, मूल और फलों का उपहार उनको अर्पण किया ॥ ३८ ॥ इसके पश्चात् अर्घ्य ग्रहण करके प्रसन्न चित्त उन ब्रह्मवादी मुनिश्रेष्ठ याज्ञवल्क्य से आदर सहित विनय पूर्वक नम्रहोकर इस प्रकार निवेदन किया ॥ ३९ ॥ हे करुणा के सागर ! महाभाग ! हम इस समय आपके दर्शन से पवित्र और कृतकृत्य हुए हैं ॥ ४० ॥

वयं सर्वेऽधुना तात ! प्रपन्नास्त्वां महामुने ! ।
शाधि ज्ञानप्रदानेन श्रूयसे ज्ञानभास्करः ॥ ४१ ॥
इति ब्रुवत्सु सर्वेषु याज्ञवल्क्यो महामतिः ।
अतिगम्भीरया वाचा स्मयमान उवाच ह ॥ ४२ ॥
साधु साधु महाभागाः ! प्रीतोस्मि विनयेन वः ।
ज्ञानतत्त्वं परं पुम्भिः शीलेनैवात्र लभ्यते ॥ ४३ ॥
शीलं हि परमा विद्या शीलमेव परं तपः ।
नैव शीलात्परं किञ्चित् तस्माच्छीलं सदाश्रयेत् ॥ ४४ ॥
लोकोपकारकर्तॄणि चरितानि भवादृशाम् ।
तदहं वः प्रवक्ष्यामि यत्प्रष्टव्यं तदुच्यताम् ॥ ४५ ॥
तच्छ्रुत्वा मुनयः प्रीताः मिथः सर्वे परामृशन् ।
पृच्छेत्सर्वहितं किञ्चित्कस्तादृग्बुद्धिमानिति ॥ ४६ ॥
एवं विचारयन्तस्ते निश्चित्य जैमिनिं मुनिम् ।
प्रार्थयन्त प्रश्रयेण भक्त्या परमया युताः ॥ ४७ ॥

हे प्रभो ! हे महामुने ! हम सब इस समय आपके शरणागत हैं हमको ज्ञानदान करके शासन कीजिये क्योंकि हमने सुना है आप ज्ञानिश्रेष्ठ हैं ॥ ४१ ॥ सबके इतना कहने पर महामति याज्ञवल्क्य अति गम्भीर वचनों से मुस्कराते हुए बोले । हे महाभागों ! ठीक है ठीक है, तुम्हारी नम्रतासे मैं प्रसन्न हूँ । इस संसार में ज्ञान का परम तत्त्व मनुष्यको शील से ही प्राप्त होता है । शीलही परम विद्या है, शीलही परमतप है, शील से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है अतः शीलका सदा आश्रय करना चाहिये। आपके सदृश महामुनियों के चरित्र लोकोपकार करने वाले हैं अतः जो पृष्टव्य हो, सो कहिये मैं आपलोगों से वर्णन करूंगा ॥ ४२—४५ ॥ यह सुनकर मुनिगण प्रसन्न हो परस्पर विचार करने लगे कि ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो सर्वहितकारी कुछ प्रश्न पूछे ॥ ४६ ॥ इस प्रकार सोच विचार कर उन्होंने जैमिनि मुनिको निश्चित किया और वे उनसे अत्यन्त भक्ति भावसे प्रार्थना करने लगे कि सब

भगवन् ! सर्वधर्मज्ञ ! त्वमस्मासु मतोऽधिकः ।
त्वमेक एव जानासि कर्मणो गहनां गतिम् ॥ ४८ ॥
तस्माद्वृतोसि भो ब्रह्मन् ! तत्त्वं धर्मस्य पृच्छ्यताम् ।
बहुशाखस्य धर्मस्य दुर्गमत्वं विदुर्बुधाः ॥ ४९ ॥
अतो धर्मञ्च धर्माङ्गान्यजानन्तोऽथ मोहिताः ।
वेदतत्त्वार्थविज्ञानहीनत्वाल्लक्ष्यविच्युताः ॥ ५० ॥
विवदन्ते नरा यत्र यत्र सन्दिहते सदा ।
तमेवोद्दिश्य विषयं जिज्ञासा क्रियतामिह ॥ ५१ ॥
त्रिविधेनैव तापेन परितप्ताः शरीरिणः ।
येन ज्ञानेन कल्याणमाप्नुयुस्तद्विचार्यताम् ॥ ५२ ॥
एतन्निशम्य सत्कृत्य तान्मुनीनथ जैमिनिः ।
मुनिराजं याज्ञवल्क्यं सत्कुर्वन्निदमब्रवीत् ॥ ५३ ॥

जैमिनिरुवाच ।

अहो पुण्य महोभाग्यं सफलश्चाऽद्य नस्तपः ।
जातमेवं विधे क्षेत्रे भवतो दर्शनं यतः ॥ ५४ ॥

धर्मों के जानने वाले हे भगवन् ! हम लोगों से आप श्रेष्ठ हैं । आप ही एक कर्मकी गहन गतिको जानते हैं इस लिये हे ब्रह्मन् ! आप ही व्रती होकर धर्मका तत्त्व पूछिये ॥ ४७–४९ ॥ अनन्त शाखाओं वाले धर्म की दुर्गमता पण्डित लोग जानते हैं । धर्म और धर्माङ्गों के न जानने से वे मोहित और वैदिक तत्त्वार्थ के विज्ञान से विहीन होने के कारण लक्ष्य भ्रष्ट हो रहे हैं ॥ ५० ॥ जिस विषय में लोग विवाद करते हैं और जहाँ सन्देह करते हैं, उसी विषय की आप जिज्ञासा कीजिये । तीन तापों से प्राणि मात्र परितप्त हैं, जिस ज्ञान से उनका कल्याण हो वही पूछिये ॥५१॥ ॥ ५२ ॥ यह सुन कर उन मुनियों के प्रति जैमिनीने कृतज्ञता प्रकट की और वे मुनिश्रेष्ठ याज्ञवल्क्य से आदर के साथ बोले ॥ ५३ ॥

महर्षि जैमिनीने कहाः–यह हमारा बड़ा सुकृत है, हमारा अहोभाग्य है, हमारा तप सुफल हुआ है, जो ऐसे क्षेत्र में हमें आपका दर्शन हुआ।

नूनमेषा भगवतः सर्वान्तर्यामिणो दया ।
यदस्माभिरियं प्राप्ता भवतः पुण्यसङ्गतिः ॥ ५५ ॥

अद्य ज्ञास्यामहे तत्त्वं गूढं वेदोपपादितम् ।
सारञ्च सर्वशास्त्राणां त्वन्मुखाम्भोजनिस्सृतम् ॥ ५६ ॥

तद् ब्रूहि भगवन् पूर्वमेतज्जिज्ञासितं हि नः ।
को भावः तस्य भेदास्तु कियन्तः परिकीर्तिताः ॥ ५७ ॥

का श्रद्धा कीदृशी चेयं भावशोधनकारिणी ।
कियन्त एव वा तस्या भेदाः ख्याता दयानिधे ॥ ५८ ॥

त्वदुक्तश्रवणोत्पन्नश्रद्धावृद्ध्या यथा वयम् ।
विशुद्धभावा संसारं सन्तरेम तथा कुरु ॥ ५९ ॥

अधिगन्तुञ्च भगवद्दिव्यभक्त्यधिकारिताम् ।
शक्नुमो ब्रह्मनिष्णात ! ब्रूहि सर्वं यथोचितम् ॥ ६० ॥

तदाकर्ण्य क्षणं ध्यात्वा याज्ञवल्क्योऽनुमोद्य तत् ।
कृपया परयाविष्टः प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ ६१ ॥

यह उस सर्वान्तर्यामी भगवान् की बड़ी दया है, जो हमें आपकी पुण्यकारिणी सङ्गति प्राप्त हुई है ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ आज हम आपके मुख कमल से निःसृत वेदोक्त गूढ़तत्त्व और सब शास्त्रों का सार जानना चाहते हैं । इसलिये हे भगवन् ! यही हमारी पहिली जिज्ञासा है, इसी को पहिले कहिये । भाव क्या है, उसके भेद कितने हैं, श्रद्धा क्या है, भाव को शोधन करनेवाली वह कैसी है, उसके भेद कितने हैं ? हे दयानिधे ! आपके कथन को श्रवण कर उत्पन्न हुई श्रद्धा की वृद्धि से जिस प्रकार हम विशुद्ध भाव होकर संसार से तर जायँ ऐसा कीजिये । हे ब्रह्मज्ञ ! जिससे हम भगवान् की दिव्य भक्ति की अधिकारिता को जानने में समर्थ होजायं, वही यथोचित रूप से हमें सुनाइये ॥ ५६–६० ॥ यह सुनकर याज्ञवल्क्य ने क्षणमात्र ध्यान मग्न होकर महर्षि जैमिनी का अनुमोदन किया और वे परम कृपा से युक्त होकर बोलने का उपक्रम करने लगे ॥ ६१ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच ।

भाव एवाऽत्र सूक्ष्मातिसूक्ष्मतत्त्वं निगद्यते ।
भावात्सूक्ष्मतरं किञ्चित्तत्त्वं न परिलक्ष्यते ॥ ६२ ॥
भावातीतमपि ब्रह्म ज्ञायते योगिभिः सदा ।
साहाय्येनैव भावस्य प्रथमं तत्त्ववेदिभिः ॥ ६३ ॥
ब्रह्मसाक्षात्कृतौ भावमन्तिमालम्बनं विदुः ।
सारूप्यावस्थितौ वृत्तेः सदसद्भावभेदतः ॥ ६४ ॥
उत्पद्येते तु भावेन पुण्यपापे उभे अपि ।
सूक्ष्मावस्था तु भावस्य त्रैविध्यमवलम्बते ॥ ६५ ॥
आध्यात्मिकाऽऽधिदैवाऽऽधिभौतिकानीति शास्त्रतः ।
ज्ञानिना भक्तराजेन तत्त्रयस्यावलम्बतः ॥ ६६ ॥
ब्रह्मेश्वरविराड्रूपैर्भगवान् दृश्यते क्रमात् ।
ब्रह्माण्डेषु च सर्वत्र ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ६७ ॥
भावांस्त्रीन्सततं सम्यग्वीक्षन्ते सर्ववस्तुषु ।
भावो हि स्थूलावस्थायां सदसद्रूपमास्थितः ॥ ६८ ॥

महर्षि याज्ञवल्क्य बोले-यहां पर भावतत्त्व सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म कहा गया है । भाव से सूक्ष्म तो कोई तत्त्व ही नहीं दीख पड़ता । तत्त्ववेत्ता योगिगण भावातीत ब्रह्म को भी भाव की ही सहायता से जान लेते हैं । ब्रह्म-साक्षात्कार में भाव ही अन्तिम अवलम्ब है । सारूप्य अवस्था में वृत्ति के सत् और असत् भावों से ही पुण्य और पाप दोनों उत्पन्न होते हैं । भाव की सूक्ष्मावस्था शास्त्रों में त्रिविध कही गई है ॥ ६२-६५ ॥ यथा-आध्यात्मिक अवस्था, अधिदैव अवस्था और आधिभौतिक अवस्था । इन्हीं के अवलम्बन से भक्तराट् ज्ञानीगण क्रमशः ब्रह्म, ईश्वर और विराट् के रूपोंमें भगवान् को देखते हैं । ब्रह्माण्ड की सभी वस्तुओं में तत्त्वदर्शी ज्ञानीगण इन्हीं तीन भावों को भली भांति निरन्तर देखते हैं । स्थूल अवस्था में सत् और असत् रूपमें स्थित

स्वर्गञ्च नरकञ्चैव प्रापयत्यत्र मानवान् ।
श्रद्धाया जनको भाव आत्मोन्मुखकृताविह ॥ ६९ ॥
अन्तःकरणवृत्तेश्च श्रद्धैका मूलकारणम् ।
त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिप्रकृतिभेदतः ॥ ७० ॥
सात्त्विकी राजसी चैव तामसीति बुभुत्सवः ।
तासान्तु लक्षणं विप्राः शृणुध्वं भक्तिभावतः ॥ ७१ ॥
श्रद्धा सा सात्त्विकी ज्ञेया विशुद्धज्ञानमूलका ।
प्रवृत्तिमूलिका चैव जिज्ञासामूलिकाऽपरा ॥
विचारहीनसंस्कारमूलिका त्वन्तिमा मता ॥ ७२ ॥
इति श्रीसन्न्यासगीतायां महर्षिसमागमो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

जैमिनिरुवाच ।

सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञ ! धर्माङ्गज्ञानभास्कर !
त्वत्समो वेदवेदाङ्गनिष्णतो नेतरो जनः ॥ १ ॥

हो कर भाव ही मनुष्योंको स्वर्ग अथवा नरक में पहुँचाता है । भाव श्रद्धा का जनक है और अन्तःकरण की वृत्ति को आत्मोन्मुख करने के लिये श्रद्धा ही मूल कारण है । प्राणियों की प्रकृति के अनुसार श्रद्धा तीन प्रकार की होती है ॥६६–७०॥ यथा–सात्विकी, राजसी और तामसी । हे धर्मतत्त्व के जानने की इच्छा करने वाले विप्रगण ! अब उनके लक्षण भक्ति भाव से सुनो । विशुद्ध ज्ञान मूलक श्रद्धा सात्विकी है, प्रवृत्ति और जिज्ञासा मूलक श्रद्धा राजसी है और विचार-हीन संस्कार मूलक तामसी श्रद्धा है ॥ ७१–७२ ॥

इस प्रकार श्री सन्न्यासगीता का महर्षि समागम नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ।

महर्षि जैमिनि बोले–हे सब शास्त्रार्थों के तत्त्वों को जानने वाले ! धर्माङ्गज्ञान के सूर्यस्वरूप ! आप के समान वेद और वेदाङ्गों में निष्णात दूसराकोई नहीं है । इसलिये हे धर्मज्ञों के धुरीण ! हमलोग

अतस्त्वां धर्मविद्धुर्यं पृच्छामो भक्तितो वयम् ।
ज्ञेयं स्फुटं सर्वमुक्त्वा जिज्ञासूननुकम्पय ॥ २ ॥

दुर्ज्ञेयं दुर्गमञ्चापि धर्मतत्त्वं नृणामिह ।
वहुशाखश्च वेदोऽयं दुर्वोध इति कीर्त्यते ॥ ३ ॥

सन्ति नाना पुराणानि स्मृतयो दर्शनानि च ।
व्यञ्जयन्ति च भिन्नानि स्वमतानि पृथक् पृथक् ॥ ४ ॥

आचार्या वहवस्तेषां मतश्चाऽपि विभिद्यते ।
तत एव वयं सर्वे तत्त्वं ज्ञातुं न शक्नुमः ॥ ५ ॥

भवान् संदर्शितो दैवाद्विधात्रा ज्ञानसागरः ।
अतस्त्वां परिपृच्छामः शाधि नः शरणागतान् ॥ ६ ॥

व्रूहि साङ्गं धर्मरूपं सरहस्यं सलक्षणम् ।
कर्मज्ञानोपासनानां तत्त्वञ्चाऽपि पृथक् पृथक् ॥ ७ ॥

निवृत्तिधर्म्मरूपस्य सन्न्यासस्य च तत्त्वतः ।
प्रशंसार्हस्य तत्त्वज्ञ निर्णयं वक्तुमर्हसि ॥ ८ ॥

आपसे भक्ति पूर्वक प्रश्न करते हैं, आप हमें जानने योग्य सव कुछ स्पष्ट तया कह कर हम जिज्ञासुओं पर दया करें । मनुष्यों के लिये धर्मतत्त्व दुर्वोध-और दुर्गम हो रहा है, वेद की अनेक शाखाएँ हैं और उनका जानना सहज नहीं ऐसा कहा जाता है ॥ १-३ ॥ अनेक पुराण व स्मृतियाँ और दर्शन हैं । वे अपने विभिन्न मत पृथक् पृथक् प्रकट कर रहे हैं ॥४॥ आचार्य अनेक हैं और उनके मत भी विभिन्न हैं। अतः हम तत्त्व को जानने में असमर्थ हैं ॥ ५ ॥ विधाताने आप जैसे ज्ञान सागर को हमें दिखा दिया है। इसीसे हम आप से पूछते हैं। आप हम शरणागतों को समझाइये ॥ ६ ॥ आप अङ्गों सहित, रहस्य सहित और लक्षणों सहित धर्म के स्वरूप को एवं कर्म, उपासना तथा ज्ञान के तत्त्व को पृथक् पृथक् कहिये। हे तत्त्वज्ञ ! प्रशंसा करने योग्य निवृत्ति धर्म्म रूप संन्यास तत्त्व का निर्णय कथन करने में

अनुकम्पासमुद्रोसि विश्रुतो जगतीतले।
तथोपदिश्यतां ब्रह्मन् कृपया परयान्वितः ॥ ९ ॥
यथा श्रुतौ दर्शनेषु पुराणेषु स्मृतिष्वपि।
यद्वेद्यं वास्तवं वस्तु विज्ञातं स्यादशेषतः ॥ १० ॥
कृतार्थयास्मज्जननं पूरयस्व मनोरथान्।
नृणां निःश्रेयसायैव दर्शनं स्याद्भवादृशाम् ॥ ११ ॥
जैमिनेर्मुनिवर्यस्य वचसा मुदितो भृशम्।
याज्ञवल्क्यो महातेजाः प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ १२ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच।

प्रीतोस्मि मुनिशार्दूल! ज्ञातं युष्मत्समीप्सितम्।
नूनं विश्वहितायैव प्रश्नोऽयं मुनिसत्तम ॥ १३ ॥
यावत्कालं प्रवत्स्यामि तीर्थेऽस्मिन् व्रतमास्थितः।
तावद्वक्ष्ये यथाकालं तत्त्वं वेदादिनिश्चितम् ॥ १४ ॥

आप समर्थ हैं ॥ ७-८ ॥ आप दया सागर हैं, संसार में प्रसिद्ध हैं, इसलिये हे ब्रह्मन्! आप विशेष कृपा करके ऐसा उपदेश कीजिये जिससे वेद, दर्शन, पुराण और स्मृतियों में जो कुछ वास्तव में जानने योग्य है, उसका सम्पूर्ण रूप से हमें ज्ञान हो जाय ॥ ९-१० ॥ हमारे जन्म को आप कृतार्थ करें और मनोरथों को पूर्ण करें। आप जैसों का दर्शन निःसन्देह मनुष्यों के कल्याण के लिये ही होता है ॥ ११ ॥ मुनिवर जैमिनी के वचनों से अत्यन्त प्रसन्न होकर महान् तेजस्वी महर्षि याज्ञवल्क्य हँसकर बोले ॥ १२ ॥

हे मुनिशार्दूल! मैं आप से प्रसन्न हूं। आपकी इच्छा मुझे ज्ञात हुई है। हे मुनि श्रेष्ठ! आपका यह प्रश्न जगत् का कल्याण करने के लिये है ॥ १३ ॥ जब तक इस तीर्थ में मैं व्रती होकर रहूंगा तब तक समय समय पर वेद आदि से निश्चित तत्त्व का कथन करूंगा। और क्रमशः शास्त्रों के तत्त्वों को अधिकार भेदानुसार

यथाधिकारं सर्वाणि शास्त्रतत्त्वान्यहं क्रमात्।
श्रावयन्नपनेष्यामि युष्माकं सर्वसंशयान्॥ १५॥
यच्चाऽहमभिधास्यामि तदग्रे ख्यातिमेष्यति।
नाम्ना सन्न्यासगीतेति सारभूता श्रुतेः क्षितौ॥ १६॥
पठनाच्छ्रवणाद्यस्या जिज्ञासुश्छिन्नसंशयः।
ईशिष्यते मुक्तिपदप्राप्तये नाऽत्र संशयः॥ १७॥
अन्येऽपि यदि सन्देहा भवेयुर्मनसि स्थिताः।
तदाख्येयास्तेपि सर्वे निर्विशङ्कं ममाग्रतः॥ १८॥

जैमिनिरुवाच।

भगवन्! सर्वधर्मज्ञ! ब्रूहि धर्मस्य लक्षणम्।
के हि साधारणा धर्मा विशिष्टाः के च कीर्त्तिताः॥ १९॥
कियन्ति धर्मस्याङ्गानि विस्तरेण वदस्व नः।
यथा नराः परं श्रेय इह च प्रेत्य चाप्नुयुः॥ २०॥

याज्ञवल्क्य उवाच।

यतोऽभ्युदयमुत्कृष्टमैहलौकिकमाप्नुयुः।
हितञ्चाऽमुष्मिकं निःश्रेयसं धर्मः स कीर्त्तितः॥ २१॥

सुनाता हुआ आप के सब सन्देहों को दूर करूँगा॥ १४-१५॥ जो कुछ मैं कहूंगा, वह श्रुति की सारस्वरूप संन्यास गीता के नाम से आगे पृथ्वीपर प्रसिद्ध होगी। जिसके पढ़ने सुनने से जिज्ञासु के सन्देह दूर हो जायंगे और निःसन्देह वह मुक्तिपदप्राप्ति के लिये समर्थ होजायगा॥१६-१७॥ इनके अतिरिक्त और भी यदि कोई सन्देह आपके मनमें हों तो वे भी सब मेरे आगे निःशङ्क होकर कहें॥ १८॥

महर्षि जैमिनि बोले-हे सब धर्मोंके जानने वाले भगवन्! आप धर्म के लक्षण को कहिये। साधारण धर्म कौनसे हैं, विशेष धर्म कौनसे कहे गये हैं, धर्म के अङ्ग कितने हैं, यही हमें विस्तार से कहिये। जिस से मनुष्यों को इह लोकमें और परलोक में परम श्रेय प्राप्त हो॥१९-२१॥

महर्षि याज्ञवल्क्य बोले-जिससे इहलोक में उत्कृष्ट अभ्युदय और परलोक में सुख एवं मोक्ष प्राप्त होता है, वही धर्म कहा गया

श्रुतिस्मृत्युदितो धर्म्मस्त्वधर्मस्तद्विपर्यय:।
यत: स्वर्गश्च मोक्षश्च स धर्म्मो विदुषां मत:॥ २२॥
धर्मात्प्रवर्द्धते सत्त्वं पुरुषार्थप्रवर्द्धनम्।
जगद्धारणहेतुत्वाद्धर्मत्वं तस्य चेष्यते॥ २३॥
प्रकाशकत्वात्सत्त्वस्य ज्ञानहेतुत्वमीर्य्यते।
लघुत्वादूर्ध्वनेतृत्वं सत्त्वाद्धर्मो हि निर्वभौ॥ २४॥
स्वद्व: सत्त्वाभिवृद्धिर्यैर्मनोवाक्कायकर्मभि:।
तानि सर्वाणि कर्माणि धर्म इत्येष निर्णय:॥ २५॥
धर्म्माचाररत: सत्त्वं वर्द्धयन् परमोन्नतिम्।
ऐहिकीमामुष्मिकीं च प्राप्य मोक्षं ततोऽश्नुते॥ २६॥
धर्म्मं यो बाधते धर्मो कुधर्म्म: स हि वस्तुत:।
अविरोधी तु यो धर्म्म: स धर्मो मुनिपुङ्गवा:॥ २७॥

है॥ २१॥ जिसका उदय श्रुतिस्मृति से हुआ है वह धर्म, और उससे विपरीत अधर्म है। जिससे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है ज्ञानियों के मत से वही धर्म है। २२। धर्म से पुरुषार्थ की वृद्धि करने वाला सत्त्वगुण बढ़ता है और जगत् को धारण करने के कारण ही उसे धर्म कहते हैं॥ २३॥ धर्म्म सत्त्व गुण का प्रकाशक होने से ज्ञान का कारण है और सूक्ष्म होने से सत्त्व के ही कारण वह उन्नतिकारी है, जो मन, वाणी और काया से किये हुए कर्म स्वयं सत्त्व की अभिवृद्धि करें वे सब कर्म ही धर्म हैं, ऐसा निर्णय किया गया है॥ २४–२५॥ धर्माचरण में रत मनुष्य सत्त्व गुण को बढ़ाता हुआ ऐहिक और पारलौकिक परम उन्नति को प्राप्त करने पर मोक्ष पाता है *॥ २६॥ जो धर्म दूसरे धर्म का बाधक

---

* सत्त्व गुण वर्धक धर्म्म की उत्तरोत्तर तीन दशाएँ वर्णन की गई हैं। पहिली दशा में धर्म प्रथम अधिकारीको इस लोक के सुख देता है, दूसरी दशा में मध्यम अधिकारी को धर्म स्वर्गादि पारलौकिक सुख देता है और अन्तिम दशामें सर्वोत्तम अधिकारी को धर्म निर्वाण मुक्ति पद में पहुंचा देता है। यथा क्रम ये तीनों अधिकार समझे जायं।

उक्तः सामान्यधर्मोऽयं विशिष्टस्त्वतिरिच्यते।
अधिकारिविभेदेन स ह्यनेकविधः स्मृतः॥ २८॥
सधवाविधवादीनां स्त्रीणां भेदस्य दर्शनात्।
प्रत्येकं भिद्यते धर्मस्तथा पुंस्वपि सर्वथा॥ २९॥
मूर्खपण्डितसंन्यस्तगृहस्थादिविभेदतः।
सर्वेषामेव प्रत्येकं धर्माः प्रोक्ताः पृथक् पृथक्॥ ३०॥
सर्वत्र व्यापकादस्मात् सर्वजीवहितैषिणः।
धर्मात् सनातनादेव सर्वे धर्म्माः समुत्थिताः॥ ३१॥
सनातने ह्यार्यधर्मे वैदिकाचारपालना।
सदाचारसतीधर्माध्यात्मतत्त्वविचारणा॥ ३२॥
वर्णाश्रमाधीनकर्मविभागश्चाऽत्र विद्यते।
अस्मादन्योऽनार्यधर्म इत्यस्मच्छास्त्रनिश्चयः॥ ३३॥

हो, वह वास्तव में कुधर्म है। हे मुनिश्रेष्ठो! जो धर्म किसी से विरोध नहीं रखता, वही सच्चा धर्म है॥ २७॥ † यह सामान्य धर्म कहा गया है, विशेष धर्म पृथक् है। जो अधिकारिभेद से अनेक प्रकार का होता है। स्त्रियों में सधवा और विधवा इस प्रकार से भेद देख पड़ते हैं, अतः उनके धर्म भी विभिन्न हैं। यही बात पुरुषों की है। मूर्ख और पण्डित, सन्न्यासी और गृहस्थ इस प्रकार के जो पुरुषों में भेद हैं, तदनुसार उनके धर्म भी अलग अलग कहे गये हैं॥ २८-३०॥ सनातन धर्म सर्वजीव हितकारी और सर्वव्यापक होने के कारण इसीसे संसार के सब धर्म निकले हैं॥३१॥ सनातन आर्यधर्म में वैदिक आचारों का पालन होता है, एवं सदाचार, सतीधर्म और आध्यात्मिक तत्त्वों का विचार रक्खा गया है॥ ३२॥ और इसमें वर्णाश्रम के अनुसार कर्म्म विभाग किया गया है। इसी से यह आर्य धर्म और इस से भिन्न अनार्य धर्म है, ऐसा हमारे शास्त्रों का निश्चय है॥ ३३॥ जो इस

---

† यही सर्वव्यापक सर्वजीव हितकारी सनातन धर्मका लक्षण है।

येवं सदाचारवर्णाश्रमधर्मानुगामिनी ।
सर्वस्वं मनुते वेदं सार्यजातिरिति स्मृतिः ॥ ३४ ॥
एतद्भिन्नाऽनार्यजातिः सदाचारादिवर्जिता ।
अन्यदप्येवमेवोह्यं नोच्यते विस्तृतेर्भयात् ॥ ३५ ॥
अङ्गानि त्रीणि धर्मस्य दानं यज्ञस्तपस्तथा ।
स्कन्धरूपाणि धर्मस्य शाखिनः पावनानि हि ॥ ३६ ॥
दानञ्चापि त्रिधा प्रोक्तं विद्याऽर्थाऽभयदानतः ।
तत्रापि गुणभेदेन नवधा दानमीर्यते ॥ ३७ ॥
एवं तपस्त्रिधा ज्ञेयं कायिकं वाचिकं तथा ।
मानसञ्चाथ गुणतः प्रत्येकं त्रिविधं पुनः ॥ ३८ ॥
यज्ञधर्मविभेदास्तु मुनीनां बहवो मताः ।
कर्मज्ञानोपासनाख्या भेदा मुख्यास्त्रयः स्मृताः ॥ ३९ ॥
कर्मयज्ञस्य षड् भेदा नित्यं नैमित्तिकं तथा ।
काम्यमाध्यात्मिकं चैवाऽऽधिदैवञ्चाधिभौतिकम् ॥ ४० ॥

प्रकार से सदाचार और वर्णाश्रम धर्म का अनुसरण करती हो एवम् वेद को ही अपना सर्वस्व समझती हो, स्मृति के मत से वही आर्य जाति है ॥ ३४ ॥ इससे भिन्न अनार्य जाति है जो सदाचार से रहित है । इसी प्रकार अन्य बातें भी जानलेनी चाहिये जो विस्तार के भय से यहाँ पर नहीं कही जा सकतीं ॥ ३५॥ धर्मरूपी वृक्ष के पवित्र स्कन्ध स्वरूप दान, यज्ञ और तप इस प्रकार से तीन अङ्ग हैं ॥ ३६ ॥ दान भी तीन प्रकार के होते हैं । विद्यादान, अर्थ दान और अभय दान। इनमें से हर एक की सात्त्विक, राजसिक और तामसिक गुण भेदानुसार गणना करने से दान सब मिलाकर नौ प्रकार का होता है ॥ ॥३७॥ इसी प्रकार से तप भी त्रिविध होता है। यथा—कायिक, वाचिक और मानसिक । इनमें से हर एक सात्त्विकादि गुण भेदानुसार त्रिविध होने के कारण सब मिला कर तप भी नौ प्रकार का होता है ॥ ३८ ॥ यज्ञ धर्म के भेद मुनियों के मत से अनेक हैं, किन्तु उनमें कर्म यज्ञ, उपासना यज्ञ और ज्ञान यज्ञ येही तीन मुख्य कहे गये हैं ॥ ३९ ॥ कर्म यज्ञ के छः भेद हैं । यथा—नित्य, नैमित्तिक,

सत्वादिगुणयोगेन भेदास्तत्रापि पूर्ववत् ।
अतोऽष्टादशधा कर्म प्रत्येकं गुणयोगतः ॥ ४१ ॥
तथैवोपासनायज्ञो मुनिभिर्बहुधा मतः ।
परं मुख्यप्रभेदास्तूपासनापद्धतेरिमे ॥ ४२ ॥
उपास्तिर्ब्रह्मणस्त्वाद्या द्वितीया सगुणस्य च ।
तृतीया स्मर्यते लीलाविग्रहोपासना बुधैः ॥ ४३ ॥
चतुर्थी पितृदेवर्षिगणानामस्त्युपासना ।
अन्तिमा क्षुद्रदेवानां प्रेतादीनां विधीयते ॥ ४४ ॥
अन्येऽपि तस्याश्चत्वारो भेदाः साधनपद्धतेः ।
तत्रादिमो मन्त्रयोगः स्थूलध्यानैकसाधनः ॥ ४५ ॥
द्वितीयो हठयोगः स्याज्ज्योतिर्ध्यानैकसाधनः ।
लययोगस्तृतीयोऽसौ विन्दुध्यानविधानकः ॥ ४६ ॥
राजयोगोऽन्तिमस्तत्र ब्रह्मध्यानं विधीयते ।
भेदा नवानामप्येषां गुणतः सप्तविंशतिः ॥ ४७ ॥

काम्य, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ॥ ४० ॥ पूर्ववत् सात्विकादि गुण भेदानुसार हर एक कर्म तीन तीन प्रकार का होने से सब कर्म अठारह प्रकार के हैं ॥ ४१ ॥ इसी तरह मुनियों ने उपासना यज्ञ भी अनेक प्रकार के कहे हैं। परन्तु उपासना पद्धति के मुख्य भेद निम्न लिखित हैं ॥ ४२ ॥ पहिली ब्रह्मोपासना, दूसरी सगुणोपासना, तीसरी अवतारोपासना, चौथी पितृगण, देवगण और ऋषिगण की उपासना एवम् पांचवीं प्रेतादि क्षुद्र देवों की उपासना विज्ञ पुरुषों ने कही है ॥ ४३–४४ ॥ इनके अतिरिक्त उपासना की साधन पद्धति के और भी चार भेद हैं। उनमें प्रथम मन्त्रयोग है, जिसका साधन स्थूल ध्यान से होता है। दूसरा हठयोग है, जिसका साधन ज्योति के ध्यान से होता है। तीसरा लय योग है, जिसमें विन्दुध्यान करने की विधि है और चौथा राजयोग है, जिसमें ब्रह्मका ध्यान किया जाता है। इस प्रकार की नवविध उपासना के सात्विकादि गुणानुसार २७ भेद हैं ॥ ४५-४७ ॥

श्रवणं मननञ्चैव निदिध्यासनमेव च ।
त्रिधैवं ज्ञानयज्ञोऽपि नवधा स्याद्गुणाश्रयात् ॥ ४८ ॥
इत्यन्त्रशासुर्धर्मस्य मुख्यान् भेदानशेषतः ।
चतुर्विंशतिसंख्याकान् मुनयस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ४९ ॥
एतेषामपि धर्माङ्गभेदानां गुणभेदतः ।
भेदा द्विसप्ततिर्भूयो भवन्तीति विभाव्यताम् ॥ ५० ॥
एषु जीवहितायैकमप्यङ्गं यद्यनुष्ठितम् ।
व्यष्टिबुद्ध्या नरैरत्र यज्ञ इत्युच्यते तदा ॥ ५१ ॥
समष्ट्या सर्वजीवानां हिताय यदनुष्ठितम् ।
एकञ्चापि तदा तच्च महायज्ञ इतीर्यते ॥ ५२ ॥
सत्त्वेन सेवितं ह्येकमप्यङ्गं पूर्णरूपतः ॥
प्रापयत्येकमप्येतन्नरं मुक्तिपदं क्षणात् ॥ ५३ ॥
यथा स्फुलिङ्गश्चैकोऽपि विश्वन्दहति सेन्धनः ।
एवं दहत्येकमङ्गमपि कर्माणि सर्वशः ॥ ५४ ॥

ज्ञान यज्ञ भी श्रवण, मनन और निदिध्यासन इस प्रकार से त्रिविध है । और हरएक सात्त्विकादि गुण भेदानुसार त्रिविध होने से ज्ञान यज्ञ नौ प्रकार का कहा जाता है ॥ ४८ ॥ तत्त्वदर्शी मुनियोंने इस प्रकार से धर्म के सम्पूर्ण भेदों में से मुख्य २४ भेद बताये हैं । धर्माङ्गों के इन २४ भेदों के सात्त्विकादि गुणानुसार ७२ भेद होते हैं, यह समझ लेना चाहिये ॥ ४९-५० ॥ यदि मनुष्य जीव के हित के लिये व्यष्टि बुद्धि अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण के विचार से इनमें से एक भी अङ्ग का अनुष्ठान करे तो उसे यज्ञ कहते हैं। और समष्टि बुद्धि से सब जीवों के हित के लिये यदि मनुष्य इनमें से किसी एकका अनुष्ठान करे तो उसे महायज्ञ कहते हैं ॥ ५१-५२ ॥ सात्त्विक भाव रखकर इनमें से एक भी अङ्ग का यदि पूर्ण रूप से पालन किया जाय तो वह मनुष्य को क्षण मात्र में मुक्ति पद को पहुँचा सकता है ॥ ५३ ॥ जैसे एक ही चिनगारी इन्धन युक्त होने से समस्त विश्वको जला देती है, वैसा धर्म का एक ही अङ्ग सब

अहिंसाज्ञानयोगादिधर्मोपाङ्गाश्रयेण ह ।
जगत्यां बौद्धधर्मोऽपि प्रथितः प्रचलिष्यति ॥ ५५ ॥
तथा द्वीपान्तरेष्वेवं केतुमालादिषु क्वचित् ।
वर्षेषु सत्यतास्वार्थत्यागिता च गुणादरः ॥ ५६ ॥
ज्ञानार्जनस्पृहा नित्यं नियमानाञ्च पालनम् ।
इमाः सर्वा भविष्यन्ति प्रशस्ता धर्मवृत्तयः ॥ ५७ ॥
यासामालम्बनादेव पाश्चात्याः परमोन्नताः ।
माननीयत्वमेष्यन्ति जगत्यां सुप्रतिष्ठिताः ॥ ५८ ॥
पितॄणां गुरुवृद्धानां शुश्रूषा राजभक्तता ।
धैर्यञ्च ब्रह्मचर्यञ्च क्षात्रधर्मानुरागिता ॥ ५९ ॥
इत्यादि कतिचिद्धर्मवृत्तिबाहुल्यसेवनात् ।
प्रख्यास्यति जयप्राणो देशः स्वल्पोपि भूतले ॥ ६० ॥
अत एवान्यदेशीयाः परोत्कर्षासहिष्णवः ।
अर्चिष्यंति तथाऽप्येनं केतुमालादिवासिनः ॥ ६१ ॥
तदेवं प्रतिपद्यध्वे विमृश्येत क्षणं यदि ।
ता धर्मवृत्तयोऽप्यस्मद्धर्म्मोपाङ्गानि सन्ति हि ॥ ६२ ॥

कर्मों को भस्म कर देता है ॥ ५४ ॥ अहिंसा और ज्ञान योगादि धर्म के उपाङ्गों का ही आश्रय करने से संसार में बौद्ध धर्म प्रसिद्ध होकर फैलेगा ॥ ५५ ॥ इसी तरह कहीं कहीं केतुमालादि द्वीपान्तरों में भी सत्यता, स्वार्थत्यागिता, गुणग्राहकता, ज्ञानसम्पादन की इच्छा, नित्य नियमों का पालन ये सब प्रशस्त धर्म वृत्तियाँ उदित होंगी ॥ ५६-५७ ॥ जिनके अवलम्बन से पश्चिमी लोग संसार में भली भांति प्रतिष्ठित और अत्यन्त उन्नत होकर माननीय बनेंगे ॥ ५८ ॥ इनके अतिरिक्त माता पिता और वृद्ध गुरुजनों की सेवा, राजभक्ति; धैर्य, ब्रह्मचर्य, क्षात्रधर्म में अनुराग इत्यादि कई एक धार्मिक वृत्तियों का अधिक अभ्यास करने से छोटा भी जयप्राणदेश पृथ्वी में प्रसिद्ध हो जायगा। अतएव दूसरों का उत्कर्ष सहन न करनेवाले अन्यदेशीय केतुमलादिवासी उस देश के निवासियों का आदर करने लगेंगे ॥ ५९-६१ ॥ अतः क्षणमात्र विचार किया जाय तो सिद्ध होगा कि उक्त

कानि कस्येति कथ्यन्ते धर्म्मोपाङ्गानि तत्त्वतः ।
तपसो मानसस्याहुः सत्यं वै मुनिसत्तमाः ॥ ६३ ॥
तथा कलिप्रधानस्य दानस्य स्वार्थत्यागिता ।
पितृपूजोपासनायाः क्षात्रं कर्म तु कर्मणः ॥ ६४ ॥
समष्टिरूपेणैतानि देशजात्यर्थकानि चेत् ।
महायज्ञोपाङ्गभावं भजन्तीति विभाव्यताम् ॥ ६५ ॥
अवस्थाभेदतश्चैका धर्मस्य वृत्तिरास्वपि ।
भवेद्विभिन्नधर्माङ्गोपाङ्गमित्यपि बुध्यताम् ॥ ६६ ॥
मनोवृत्त्या सह स्वार्थत्यागः सम्बध्यते यदा ।
तपसः खलु जानीहि तमुपाङ्गं तदा मुने ॥ ६७ ॥
त्यागोऽसौ चेत्प्रकाश्येत यशोऽर्थं दानिना स्वयम् ।
तदा स्याद्दानधर्मस्योपाङ्गमेव न संशयः ॥ ६८ ॥
एवं विज्ञानवित्कश्चिद्यदि पश्येत् समाहितः ।
तदा निश्चिनुयादस्मद्धर्मस्योत्तमतां क्षणात् ॥ ६९ ॥

धर्म वृत्तियाँ हमारे धर्म की उपाङ्ग ही हैं ॥ ६२ ॥ अब धर्म के किस अङ्ग के कौन से उपाङ्ग हैं, सो तात्त्विक रीति से कहे जाते हैं । हे मुनिश्रेष्ठो ! मानसिकतप का उपाङ्ग सत्य है । कलिकाल के विचार से प्रधान धर्माङ्ग दान का उपाङ्ग स्वार्थ त्याग है। उपासना यज्ञ का उपाङ्ग पितृपूजा है कर्मयज्ञ का उपाङ्ग क्षात्रधर्म है । समष्टि रूप से देश और जाति के लिये किये जाते हों, तो येही उपाङ्ग महायज्ञ के भाव को प्राप्त होते हैं ऐसा समझना चाहिये ॥ ६३-६५ ॥ यहां पर यह भी समझ लेना चाहिये कि अवस्थाभेद से धर्म की एक ही वृत्ति विभिन्न धर्माङ्ग का उपाङ्ग बन जाती है ॥ ६६ ॥ मनोवृत्ति के साथ जब स्वार्थत्याग का संबंध हो जाता है, तब हे मुने! उसे निश्चय से तप का ही उपाङ्ग जानो ॥ ६७ ॥ दानी यदि वही त्याग यश की इच्छा से स्वयं प्रकट करे, तो इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं कि वह त्याग दान धर्मका उपाङ्ग होगा ॥ ६८ ॥ इस प्रकार से कोई विज्ञानवेत्ता यदि सावधान होकर देखे, तो वह हमारे धर्म की उत्तमता का क्षणमात्र में निश्चय करलेगा ॥ ६९ ॥

भूमौ विभिन्नधर्माणामाचार्याः सर्व एव हि ।
ते सनातनधर्माङ्गसाहाय्यं प्रतिपेदिरे ॥ ७० ॥
धृतिर्दानं क्षमाऽस्तेयं शौचमिंद्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो धर्मसामान्यवृत्तयः ॥ ७१ ॥
एताः सर्वान्यधर्मेषु सर्वास्त्वखिलजातिषु ।
सर्वमर्त्यसमाजे च व्याप्ताः सन्तीति मन्यताम् ॥ ७२ ॥
अत एवास्य धर्मस्य गरीयस्त्वं सुसिद्ध्यति ।
सर्वधर्मप्रसविता ततश्चैषोऽत्र गीयते ॥ ७३ ॥
यं पृथक् धर्मचरणाः पृथक् धर्मफलैषिणः ।
पृथक् धर्मैः समर्चन्तितस्मै धर्मात्मनेनमः ॥ ७४ ॥

इति श्रीसन्न्यासगीतायां साधारणधर्मनिरूपणं नाम
द्वितीयोऽध्यायः ।

पृथ्वीपर जुदे जुदे धर्मों के सभी आचार्य सनातन धर्म के किसी न किसी अङ्ग की सहायता से अपने धर्म का प्रतिपादन करते हैं ॥७०॥ धैर्य, दान, क्षमा, चोरी न करना, पवित्र रहना, इन्द्रियों का निग्रह करना, बुद्धि बढ़ाना, विद्या पढ़ना, सत्य का पालन करना और क्रोध न करना ये तो धर्म की सामान्य वृत्तियाँ हैं ॥७१॥ ये सभी अन्यधर्मों में, सब जातियों में और सब मनुष्यसमाज में व्याप्त हैं, ऐसा मानना ही होगा ॥७२॥ इसी से इस सनातनधर्म की श्रेष्ठता सिद्ध होती है और इस से सब धर्मोंका यह जनक है ऐसी प्रसिद्धि है ॥१४४॥ विभिन्न धर्मोंका आचरण करने वाले और विभिन्न धर्मों के फलों की इच्छा करने वाले विभिन्न धर्मों से जिस की पूजा करते हैं, उस धर्मस्वरूप परमात्मा को प्रणाम है, ॥ १४५ ॥

इस प्रकार श्रीसन्न्यास गीता का साधारण धर्मनिरूपण नामक
द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ।

जैमिनिरुवाच।

व्याख्यातं कृपया ब्रह्मन् धर्मतत्त्वविदा त्वया।
साङ्गं धर्मं समाकर्ण्य सञ्जाताश्छिन्नसंशयाः ॥ १॥
अथाख्याहि मुने ! दान-धर्मतत्त्वमशेषतः।
यस्मिञ् ज्ञाते नराः सर्वे लभेरन् परमं हितम् ॥ २ ॥
ऋषीणां तद्वचः श्रुत्वा याज्ञवल्क्यो मुनीश्वरः।
कृपया परयाविष्टः प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच।

श्रूयतां दानधर्मस्य रहस्यं मुनयोऽधुना।
त्रीण्यङ्गानीह धर्मस्य दानं यज्ञस्तपस्तथा ॥ ४ ॥
त्रिष्वप्यंगेषु धर्मस्य दानमेकं विशिष्यते।
विशेषतः कलावेतत्प्रधानं हितसाधनम् ॥ ५ ॥
निर्विशेषतया सर्वे यतो दानेऽधिकारिणः।
तस्माद्दानं प्रशंसन्ति सर्वशास्त्रविशारदाः ॥ ६ ॥

महर्षि जैमिनि बोले—हे धर्मतत्त्व के जानने वाले ब्रह्मज्ञ! आपने कृपा करके अङ्गों सहित धर्म कहा उसको सुनकर हमारे सन्देह मिट गये ॥ १ ॥ अब हे मुने ! दान धर्म के तत्त्व को सम्पूर्णरूप से कहिये ; जिस के जान लेने से सभी मनुष्यों का कल्याण होगा ॥ २ ॥ ऋषियों का यह वचन सुनकर मुनिश्रेष्ठ याज्ञवल्क्य परम कृपालु होकर हँसते हुए बोले ॥ ३ ॥

हे मुनिगण! अब दान धर्म का रहस्य सुनिये। धर्म के दान, यज्ञ और तप इस प्रकार से तीन अङ्ग हैं ॥ ४ ॥ धर्म के उक्त तीनों अङ्गों में प्रथम अङ्ग दान श्रेष्ठ है। विशेषतया कलियुग में तो यही सर्व प्रधान कल्याण का साधन है ॥ ५ ॥ साधारणतया सभी दान करने के अधिकारी हैं। इसीसे सब शास्त्रों के ज्ञाता गण दान की प्रशंसा करते हैं ॥ ६ ॥ हे मुनि गण ! अपना सम्बन्ध छोड़कर जो कुछ

स्वसम्बन्धमपाकृत्य यदन्यस्मै प्रदीयते।
तद्दानमिति सामान्यलक्षणं मुनयो विदुः॥ ७॥
तत्रापि दत्तवस्तुभ्यः सम्बन्धं मानसं स्वतः।
सर्वथा क्षपयेद्योऽसौ स वदान्यशिरोमणिः॥ ८॥
अतीव दुष्करन्त्वेतत्कर्म प्रोक्तं मनीषिभिः।
यदपाक्रियते चित्तसम्बन्धश्चिरसम्भृतः॥ ९॥
सुसाधितं सर्वमेव दानिना तेन भूतले।
सुपात्रे दत्तवस्तुभ्यश्चित्तं यस्य निवर्तते॥ १०॥
अन्येधर्माः कष्टसाध्यास्तपोयज्ञादयः क्षितौ।
बहुश्रमेण सिद्ध्यन्ति मनोवाक्काय निग्रहात्॥ ११॥
सुखसाध्यं दानमेव सर्वधर्मेषु कीर्तितम्।
दीयते देयमुत्थाप्य हस्तेनेयान् श्रमास्त्विह॥ १२॥
दानमर्थस्य विद्याया अभयस्येति च द्विजाः।
इत्येवं त्रिविधं दानं मया पूर्वमुदीरितम्॥ १३॥

दूसरों को दिया जाता है, उसे दान कहते हैं और दानका यही सामान्य लक्षण है॥ ७॥ फिर भी दी हुई वस्तु से जो अपना मानसिक सम्बन्ध सब प्रकार से छोड़ देता है, वह दानियों में श्रेष्ठ है॥ ८॥ परन्तु चिरकाल से संलग्न चित्त के सम्बन्ध को छोड़ देना, यह कर्म अत्यन्त कठिन है ऐसा विद्वानों का मत है॥ ९॥ सुपात्र में दान की हुई वस्तु से जिसका चित्त हट जाय, उस दानी पुरुष को पृथ्वी पर जो कुछ साधना था, वह उसने साध लिया ऐसा जानना चाहिये॥ १०॥ पृथ्वी पर तप यज्ञादि जो अन्य धर्म हैं, वे अत्यन्त कष्ट साध्य हैं। जो अत्यन्त परिश्रम से मन, वाणी और शरीर का निग्रह करने पर साध्य होते हैं। परन्तु सब धर्मों में दान ही सहजसाध्य कहा गया है। क्योंकि इसमें देने की वस्तु हाथ उठा कर दे दी जाती है, केवल इतनाही श्रम होता है॥११-१२॥ हे द्विजों! अर्थ दान, विद्यादान और अभय दान इस प्रकार से त्रिविध दान होता है, यह मैं पहले कह चुका हूं॥ १३॥ जब सद्गुरु

भवत्यभयदानं तद् गुरुणा करुणावशात् ।
संसारभयनाशाय सम्यग् यदुपदिश्यते ॥ १४ ॥
संसारभयसन्त्रस्तजीवानामविभीपताम् ।
शक्ताः सद्गुरवस्तत्र भयं मुख्यं व्यपोहितुम् ॥ १५ ॥
यस्मात्सर्वेऽभयं दातुं नैव शक्ताः क्षितौ जनाः ।
तस्मादनुपयोगित्वाद्दानमेतदुपेक्ष्यते ॥ १६ ॥
विद्यादानञ्चार्थदानमालोच्येते ततोऽधुना ।
तत्र पूर्वं ब्रह्मदानापरपर्य्यायमुच्यते ॥ १७ ॥
कायेन मनसार्थेन विद्यावृद्धिमिहेच्छता ।
यद्दानं दीयते सम्यक् ब्रह्मदानं तदीर्य्यते ॥ १८ ॥
स्थापनं पाठशालानां महाविद्यालयस्य च ।
दुर्लभप्राक्तनानर्घ्यपुस्तकानां प्रकाशनम् ॥ १९ ॥
तथा विरचनं नव्यग्रन्थानामुपयोगिनाम् ।
दानञ्च पुस्तकादीनां विद्यार्थिभ्योऽथ पाठनम् ॥ २० ॥

करुणा युक्त होकर संसार का भयनाश करने के लिये उत्तम उपदेश करते हैं, तब उसे अभय दान कहते हैं ॥ १४ ॥ संसार भय से व्याकुल और अभय चाहनेवाले जीवों के मुख्य भय का नाश करने के लिये सद्गुरु ही समर्थ हैं ॥ १५ ॥ परन्तु पृथ्वीपर सभी लोग अभय दान देने में समर्थ नहीं हैं । अतः सर्व साधारण के पक्ष में इसकी विशेष उपयोगिता न होने के कारण इस दान के विषय में साधारणतः उपेक्षा की जाती है ॥१६॥ विद्यादान एवम् धन दान की यहाँ पर आलोचना की जाती है । दोनों में प्रथम विद्यादान है और इसी को ब्रह्मदान भी कहते हैं ॥ १७ ॥ काया, मन और धन द्वारा विद्यावृद्धि की इच्छा से जो दान दिया जाता है, उसे उत्तम ब्रह्मदान कहते हैं ॥ १८ ॥ पाठशाला और महाविद्यालयों की स्थापना करना, दुर्लभ और बहुमूल्य प्राचीन पुस्तकों को प्रकाश करना ॥ १९ ॥ नवीन उपयोगी ग्रन्थों का निर्माण करना, विद्यार्थियों को पुस्तकों का दान करना, पढ़ाना, सार्वजनिक कल्याण की बुद्धि से लेखन शैलियों का

४

एवं लेखनशैलीनां हितबुद्धया प्रवर्तनम् ।
ज्ञेयान्येतान्यपि ब्रह्मदानान्तर्भावितानि वै ॥ २१ ॥
हस्त्यश्वरथवस्त्रान्नकन्यारत्नावनीगृहम् ।
दीयते श्रद्धया यत्र चेतनाचेतनात्मकम् ॥ २२ ॥
धनैश्वर्यादिकं सर्वं दीयमानमथार्थिने ।
ऋषिभिः प्रोच्यते सम्यगर्थदानमिति स्फुटम् ॥ २३ ॥
सर्वाण्येतानि दानानि गुणत्रयविभागतः ।
प्रत्येकं त्रिविधानीह भवन्ति द्विजसत्तमाः ॥ २४ ॥
देशकालानुरोधेन पात्रायानुपकारिणे ।
अनीप्सितयशःसौख्यं दीयते तद्धि सात्त्विकम् ॥ २५ ॥
जनः कीर्तिफलाकाङ्क्षी तथा प्रत्युपकारधीः ।
यद्ददात्युपकर्त्रे च दानं तद्राजसं स्मृतम् ॥ २६ ॥
सद्देशकालपात्रादिज्ञानसन्मानवर्जितम् ।
सरोपकष्टं यद्दानं तत्तु तामसमुच्यते ॥ २७ ॥

प्रचार करना ये सभी बातें ब्रह्मदान के अन्तर्गत हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥ २०-२१ ॥ हाथी, घोड़ा, गाड़ी, वस्त्र, अन्न, कन्या, रत्न, भूमि, घर आदि जो श्रद्धा से दिया जाता है अर्थात् चेतन या अचेतन धन ऐश्वर्य आदि जो कुछ याचक को दिया गया हो, उसे ऋषिगण स्पष्टतया उत्तम अर्थदान कहते हैं। २२-२३ ॥ हे द्विजश्रेष्ठों ! ये सभी दान तीन गुणों के भेद से प्रत्येक त्रिविध होते हैं ॥ २४ ॥ देशकाल का विचार कर, जिसका अपने ऊपर किसी प्रकार का उपकार न हुआ हो ऐसे पात्र में यश या सुख की इच्छा न रखकर दान दिया जाता है, वह सात्त्विक दान है ॥ २५ ॥ कीर्ति पानेकी इच्छा करनेवाले और उपकार का बदला चाहने की बुद्धि रखनेवाले लोग अपने उपकारी को जो दान देते हैं वह राजसिक दान है ॥ २६ ॥ और अच्छे देश, काल एवम् पात्र के ज्ञान से तथा सम्मान से रहित क्रोध पूर्वक या दुःख से जो दान दिया जाता है, उसको तामसिक दान कहते हैं ॥ २७ ॥ द्विजगण ! सात्त्विक दान से ही मुक्ति प्राप्त

सात्विकेनैव दानेन मुक्तिः सम्पद्यते द्विजाः।
राजसेन सुखैश्वर्य्यमिहामुत्र प्रपद्यते ॥ २८ ॥

तामसेनाश्नुते दुःखं कदाचिच्च्यवतेऽप्यधः।
तस्मादिदं विचार्य्यैव दानं सत्त्वगुणोर्जितम् ॥ २९ ॥

क्षुद्रवस्तुप्रदानादिकर्मसामान्यमात्रतः।
अहो मुक्तिः कथं सिद्ध्येद् दुर्लभा सा तु गीयते ॥ ३० ॥

इत्येवमनुयुञ्जीत संशयानोऽत्र कोपि चेत्।
तदेवं बोधनीयोऽसौ शास्त्रतत्त्वविचक्षणैः ॥ ३१ ॥

सम्पद्यते कर्मणैव मुक्तिः स्वाचरितेन वै।
सुनिर्णीतमिदं कर्ममीमांसायां यथायथम् ॥ ३२ ॥

कर्मैव दानमप्येतद्विश्वस्येत स्फुटं यदि।
यथावच्छास्त्रनिर्दिष्टरीत्यैवानुष्ठितञ्च चेत् ॥ ३३ ॥

तत्रापि सत्त्वसंजुष्टं तीव्रञ्चापि भवेद्यदि।
नूनं सम्प्रापयत्येव नरं मुक्तिं न संशयः ॥ ३४ ॥

होती है। राजसिक दान से इहलोक और परलोक में सुख एवम् ऐश्वर्य मिलता है। परन्तु तामसिक दान से तो दुःख ही होता है। यही नहीं किन्तु अधोगति भी प्राप्त होती है। अतः इन बातों का विचार कर सत्त्वगुण युक्त दान ही देना चाहिये॥ २८-२९॥ क्षुद्र वस्तु के दान जैसे साधारण कर्मसे भला मुक्ति कैसी प्राप्त हो सकती है, जो बड़ी दुर्लभ कही गई है॥ ३०॥ इस प्रकार का कोई सन्देह कर सकते हैं परन्तु शास्त्र तत्त्वों के जानने वालों को यह समझ लेना चाहिये कि अपने किये हुए कर्मों से ही मुक्ति मिलती है और यह बात कर्ममीमांसामें ठीक तौर से निश्चित की गई है॥ ३१॥ दान भी एक कर्म ही है, इस बात पर यदि ठीक विश्वास किया जाय और ठीक ठीक शास्त्रोक्त रीति से इसका अनुष्ठान हो और वह अनुष्ठान भी तीव्र सात्त्विक भाव से युक्त हो तो निःसन्देह ऐसा दान मनुष्य को मुक्ति प्राप्त करा सकता है॥ ३२-३४॥

मुक्तिदत्वे च धर्मस्य तदङ्गञ्चापि मुक्तिदम् ।
यस्यांशिनो हि यो धर्मः स तदंशेपि लभ्यते ॥ ३५ ॥
यथाग्नेर्दाहकत्वञ्चेद्गुणो लोकेऽवलोक्यते ।
तदा तस्य स्फुलिङ्गेपि प्रत्यासन्नः स वै गुणः ॥ ३६ ॥
सद्देशकालपात्रादिसाहाय्यञ्चेत्समश्नुते ।
दहत्येकः स्फुलिङ्गोऽपि वनमार्द्रमपि क्षणात् ॥ ३७ ॥
एवं धर्माङ्गमप्येकं दानञ्चेद्विधिना भवेत् ।
तदा तेनाप्यश्नुवीत नरो मुक्तिं न संशयः ॥ ३८ ॥
विज्ञेयं तत्त्वमत्रेदं सर्वशास्त्रार्थनिश्चितम् ।
सुगुप्तं सारभूतं च वक्ष्यमाणं मुनीश्वराः ॥ ३९ ॥
यावच्चित्तं मनुष्याणां विषयासक्तिमद्भवेत् ।
तावत्तद्वृत्तयश्चान्तःकरणं क्षोभयन्त्यलम् ॥ ४० ॥
यदा स्याद्विषयासक्तिर्विलीना सुतरामिह ।
विलीयन्ते तदाप्येषां वृत्तयश्चापि सर्वशः ॥ ४१ ॥

धर्म्म मुक्तिदाता होने से उसका अङ्ग भी मुक्तिदाता होगा; क्योंकि अंशीका जो धर्म होता है, वह उसके अंश में भी पाया जाता है। उदाहरण स्थलपर समझ सकते हैं कि अग्नि में दाह करने का जो गुण सर्वत्र देखा जाता है, वही गुण अग्निकी एक चिनगारी में भी रहता है। अच्छे देश, काल और पात्रकी यदि सहायता पा जाय तो वह एक ही चिनगारी हरे भरे वन को भी क्षणमात्र में भस्म कर देगी ॥ ३५-३७ ॥ इसी प्रकार से धर्म का एक ही अङ्ग दान, यदि विधि पूर्वक किया जाय, तो उससे भी मनुष्य निःसन्देह मुक्ति पा सकता है ॥ ३८ ॥ हे मुनीश्वरों ! अब मैं सब शास्त्रार्थों से निश्चित, बहुत गुप्त और सार स्वरूप जो तत्त्व कहूंगा, वह यहाँ पर जान लेने योग्य है ॥ ३९ ॥ जब तक मनुष्यों का चित्त विषयों में आसक्त रहता है तब तक उनकी वृत्तियाँ अन्तःकरण को क्षुब्ध करती हैं, और जब विषयासक्ति नष्ट हो जाती है, तब उनकी वृत्तियाँ भी विलीन हो जाती हैं। वृत्तियों का नाश होने से मनकी चंचलता क्षणमात्र में मिट जाती है और चंचलता मिटने से चित्त धारणा में

क्षीयते वृत्तिनाशे च चांचल्यं मनसः क्षणात्।
नष्टे च चापले चित्तं धारणायां प्रवर्तते ॥ ४२ ॥
तदेतदेव भगवान् योगशास्त्रे सदाशिवः।
आम्नातवाँ "श्चित्तवृत्तेर्निरोधो योग" इत्यथ ॥ ४३ ॥
आज्ञापयच्च मुदितः परमेण समाधिना।
"द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं तदा" स्यादिति चाग्रतः ॥ ४४ ॥
नूनमेतेन संसिद्धं यत्पुमान् शंसितव्रतः।
विषयात्मकवस्तुभ्यश्चित्तवृत्तीर्निवारयन् ॥ ४५ ॥
दद्याद्विषयभूतानि तानि वस्तूनि सर्वथा।
तदा निश्चापलं चेतः स्थिरतां लभते पराम् ॥ ४६ ॥
स्थिरेऽन्तःकरणे जाते स्याच्चैतन्यदर्शनम्।
तथात्वे च नरो मुक्तिं विन्दत्येव सदा स्थिराम् ॥ ४७ ॥
एवं चैकेनापि दानधर्मेणासाद्यते नरैः।
सुदुर्लभाऽपि सा मुक्तिः क्षुद्रास्ताः सिद्धयः किमु ॥ ४८ ॥
यद्येकं पणमप्यन्नमल्पं सात्त्विकभावतः।
प्रीतो ददाति पात्राय मुक्तिस्तेनाऽपि लभ्यते ॥ ४९ ॥

प्रवृत्त होता है। यही भगवान् सदाशिवने योग शास्त्र में कहा है कि चित्त-वृत्तिके निरोध को ही योग कहते हैं। भगवान् ने प्रसन्न होकर यह आज्ञा दी है कि परम समाधि से द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थान हो जाता है ॥४०-४४॥ इस से यह सिद्ध हुआ कि पवित्राचारी पुरुष यदि विषयोपभोग की वस्तुओं से अपनी चित्तवृत्ति को हटाकर विषयों की वस्तुओं का दान करदे, तो उसके चित्त से चञ्चलता दूर होकर वह परम स्थिरता को प्राप्त करेगा ॥ ४५-४६ ॥ अन्तः करण स्थिर होने से उसे चैतन्य दर्शन होगा और ऐसा होने पर वह सदा निश्चलमुक्ति को प्राप्त करेगा ॥ ४७ ॥ इस प्रकार से एक दान धर्म से ही मनुष्य अत्यन्त दुर्लभ मुक्ति को पा सकता है, फिर क्षुद्र सिद्धियों की तो बात ही क्या है ॥ ४८ ॥ यदि एक ही पैसा या थोड़ासा अन्न सात्त्विक भावसे और प्रसन्न होकर किसी सुपात्र को दिया जाय तो उस से भी मुक्ति मिल सकती है ॥ ४९ ॥ परन्तु यदि राजासिक भाव से बहुतसा धन

यदि चेद्रजसाविष्टो वितरेद्विपुलं धनम् ।
ऐहिकामुष्मिकं सौख्यमश्नुते मुक्तिमत्र नो ॥ ५० ॥
शुद्धे भावेऽल्पिष्ठदानमप्यनन्तफलं भवेत् ।
भावाशुद्धौ महद्दानमपि नालं फलाय तत् ॥ ५१ ॥
उक्तं पुरस्ताद्वा विप्रास्तामसेनैति दुर्गतिम् ।
तत्राप्येतद्विजानीत तत्त्वमुक्तं यदग्रतः ॥ ५२ ॥
इहामुत्र च संसिद्धिं दातुं दानं यथेश्वरम् ।
तथैतद्दुर्गतिञ्चापि नरं प्रापयितुं क्षमम् ॥ ५३ ॥
दत्तं हि तामसं दानमपात्रे यत्र पापिनि ।
उद्युङ्क्ते स विशेषेण तीव्रे दुष्कृतकर्मणि ॥ ५४ ॥
दातुश्च फलसम्बन्धः पारम्पर्य्यक्रमागतः ।
ततोऽसौ तामसो दाता स्यात्तत्पापफलांशभाक् ॥ ५५ ॥
अथ तस्मिन् पापफले प्रवृद्धे तु शनैः शनैः ।
अवश्यं दुर्गतिं याति कैव वात्र विचारणा ॥ ५६ ॥

दान किया जाय, तो इहलोक और परलोक में सुख प्राप्त होता है; किन्तु उससे मुक्ति नहीं होती ॥ ५० ॥ शुद्ध भाव से दिया हुआ थोड़ा भी दान अनन्त फलप्रद है और शुद्ध भाव न होने पर किया हुआ बड़ा भारी दान भी यथार्थ फल उत्पन्न नहीं करता ॥ ५१ ॥ हेविप्रों! यह जो पहिले कहा जा चुका है कि तामसिक दान से दुर्गति होती है,उस में जो तत्त्व है सो आगे कहता हूँ,उसे आप सुनिये॥५२॥ जो दान इहलोक और परलोक की सिद्धि देने में समर्थ है, वही मनुष्यको दुर्गतिमें भी पहुँचा सकता है ॥ ५३ ॥ अपात्र पापी को यदि तामसिक दान दिया जाय तो वह दान लेने वाला तीव्र असत् कर्म की ओर विशेष रूप से उद्युक्त होता है ॥ ५४ ॥ परम्पराक्रम से दाता और प्रतिगृहीता का फलसम्बन्ध रहने के कारण दान लेने वाले के पापफल का अंशभागी तामसिक दान देनेवाला भी होता ही है ॥ ५५ ॥ फिर वही पाप फल क्रमशः बढ़ने पर दाता दुर्गति को प्राप्त होता है, इसमें कहना ही क्या है ? ॥ ५६ ॥ इसलिये

सिपाधयिषुभिस्तस्माद्दानधर्मं नरैरिह।
सत्त्वादिगुणमाहात्म्यं विस्मर्तव्यं न कर्हिचित् ॥ ५७ ॥

विद्यालयस्थापनादिब्रह्मदानात्मकान्यथ।
धनरत्नाद्यर्थदानरूपाण्युत्सर्जनानि च ॥ ५८ ॥

देशकालप्रयुक्तानि योग्यपात्रार्पितानि चेत्।
संसृज्यन्ते सत्फलेन नान्यथा तु कदाचन ॥ ५९ ॥

तस्मात्सावहिताः सर्वे निशामयत साम्प्रतम्।
देशकालादिविज्ञानं व्याचष्टेऽहं पृथक् पृथक् ॥ ६० ॥

कस्मिन् देशे हि दातव्यं कुत्रैतद्वस्तु दुर्लभम्।
क्व चाधिकफलावाप्तिर्देशे दानेन सिद्ध्यति ॥ ६१ ॥

कुत्र दानेनेश्वराज्ञा विहिता स्याद्विशेषतः।
कस्मिंश्च देशे दानेनाऽधिकं जीवहितं भवेत् ॥ ६२ ॥

इत्येवमसकृत्सर्वं चिन्तयेयुर्यदा धिया।
तदैवाशु प्रपद्येरन् देशज्ञानं हितप्रदम् ॥ ६३ ॥

जिन लोगों को दान धर्म की साधना करनी हो, उन्हें कभी सत्त्वादि गुणों के माहात्म्य को भूलना नहीं चाहिये ॥ ५७ ॥ ब्रह्मदान स्वरूप विद्यालय स्थापन आदि और अर्थ दान स्वरूप धन रत्न आदि का दान देशकालानुकूल सत्पात्र में किया हो, तो उसका फल उत्तम ही होगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥५८-५९॥ इसलिये सावधान होकर आप सब सुनिये। मैं देश काल आदि का पृथक् पृथक् विज्ञान कहता हूं ॥ ६० ॥ किस देश में दानदेना चाहिये और दानकी वस्तु कहां पर दुर्लभ है और किस देश में उसका दान करने से अधिक फल की सिद्धि होती है। विशेषतया कहां दान देने से ईश्वराज्ञा के अनुकूल होगा और किस देश में दान देने से अधिक जीवों की भलाई हो सकती है। इस प्रकार से बुद्धि पूर्वक सब बातों का बारंबार विचार किया जाय, तभी हितकारी दान सम्बन्धी देश ज्ञान शीघ्र होता है ॥ ६१-६३ ॥ इसी तरह कब देना चाहिये और

एवं कदा हि दातव्यं कदैतद्वस्तु दुर्लभम् ।
कस्मिन् काले च दानेन लभ्यते विपुलं फलम् ॥ ६४ ॥
कदा दानेनेश्वराज्ञा पालनं स्याद्यथार्थतः ।
कस्मिंश्च काले दानेन बहुजीवहितं तथा ॥ ६५ ॥
इत्थं चिन्तनतो नूनं कालज्ञानमुदेत्यलम् ।
तथैवावश्यकं पात्रज्ञानञ्चात्र निशम्यताम् ॥ ६६ ॥
वितीर्य कीदृशे दानं भूयिष्ठं फलमाप्यते ।
पात्राय कीदृशे देयं कस्यैतद्वस्तु दुर्लभम् ॥ ६७ ॥
कस्मै दानेन सौकर्य्यमीशाज्ञापालने भवेत् ।
कीदृशाय च पात्राय दानं प्राणिहितावहम् ॥ ६८ ॥
इत्येवं यो देशकालपात्रादिज्ञानपूर्वकम् ।
ददाति दानं लोके स दानसिद्धिं प्रपद्यते ॥ ६९ ॥
एवं त्रिगुणतत्त्वञ्च शास्त्रोक्तं योऽध्यवस्यति ।
असावभ्युदयं निःश्रेयसञ्चाप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ७० ॥
यदा यदा मनुष्येषु देशज्ञानमुदेष्यति ।
तदाऽनावश्यकस्थाने न तैर्दानं प्रदास्यते ॥ ७१ ॥

वह वस्तु कब दुर्लभ होती है । किस समय में दान करने से बहुत फल मिलता है ॥ ६४ ॥ कब दान करने से ईश्वर की आज्ञा का यथार्थ पालन होता है । किस समय के दान से बहुत से जीवों का हित होता है। इस प्रकार विचार करने से कालज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ६५ ॥ इसी तरह आवश्यक पात्रज्ञान के सम्बन्ध में भी सुनिये। किस प्रकार के पात्र को दी जाय और किसको वह वस्तु दुर्लभ है, कैसे पात्र में दान करने से अधिक फल होता है ॥ ६६–६७ ॥ किसे दान देने से ईश्वर की आज्ञा पालन में सुविधा होगी । किस तरह के पात्र को देने से वह दान प्राणियों को हितकारी होगा ॥ ६८ ॥ इस प्रकार से देश काल और पात्र का ज्ञान रखकर संसार में जो दान देता है, वह दानकी सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ ६९ ॥ इस तरह जो शास्त्रोक्त त्रिगुण तत्त्व को जानता है, वही अभ्युदय और उत्तम निःश्रेयस प्राप्त करता है ॥ ७० ॥ जब जब मनुष्यों में देशज्ञान

यदैव कालविज्ञानं भविष्यति नरेष्विह ।
विद्यालयाद्यर्थमर्थाऽभावो न स्थास्यति क्षितौ ॥ ७२ ॥
यदा च मानसे तेषां पात्रज्ञानमुदेष्यति ।
न भविष्यन्ति वै मूर्खा ब्राह्मणास्तीर्थवासिनः ॥ ७३ ॥
यदि पात्रविचारश्च तेषां स्थास्यति चेतसि ।
न तदानीं ब्राह्मणानां दुर्गतिः समुदेष्यति ॥ ७४ ॥
नोपरंस्यति वंशोऽपि गुरूणाञ्च पुरोधसाम् ।
विद्याज्ञानतपोभ्यासैर्न पतिष्यंति ते द्विजाः ॥ ७५ ॥
नापि ते भ्रंशयिष्यंति यजमानांश्च सद्गतेः ।
त्रायते हि यतः पात्रं नरके पतनान्नरम् ॥ ७६ ॥
इत्येवं मन्निगदितमविचार्यैव चेतसा ।
दानं यद् दीयते तस्मात्त्वदानं सुतरां वरम् ॥ ७७ ॥
यतो दत्तेनापि तेन न स्याच्छ्रेयो नृणामिह ।
स्वदेशस्य स्वजातेर्वा समष्टिव्यष्टिरूपतः ॥ ७८ ॥

का उदय होगा, तब उनके द्वारा अनुचित स्थान में दान नहीं दिया जायगा ॥ ७१ ॥ जब मनुष्यों को कालज्ञान होजायगा, तब पृथ्वी में विद्यालय आदि के लिये अर्थाभाव नहीं रहेगा ॥ ७२ ॥ जब उनके मन में पात्रज्ञान उदित होगा, तब तीर्थ के ब्राह्मण कभी मूर्ख नहीं होंगे ॥ ७३ ॥ जब उनके मन में पात्र का विचार रहेगा, तब कभी ब्राह्मणों की दुर्गति नहीं होगी ॥ ७४ ॥ गुरु-पुरोहितों का वंश नष्ट नहीं होगा और द्विज विद्या, ज्ञान और तप के अभ्यास से नहीं गिरेंगे ॥ ७५ ॥ फिर वे यजमानों को सद्गति से च्युत नहीं होने देंगे क्योंकि पात्र ही मनुष्य को नरक में गिरने से बचाता है ॥ ७६ ॥ यह जो मैंने कहा, उसका मनमें विचार न कर जो दान दिया जाता है, उससे तो दान न देना ही अधिक उत्तम है * ॥ ७७ ॥ क्योंकि ऐसा दान देने से भी समष्टि या व्यष्टि रूप से स्वदेश अथवा

* ग्रन्थकार का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि सात्विक दान ही देना सर्वदा दाता का कर्तव्य होना चाहिये ।

न चाप्यत्रोन्नतिस्तस्य स्वधर्मोऽपि विजृम्भते ।
तस्माच्छास्त्रोक्तरीत्यैव दद्याद्दानं समाहितः ॥ ७९ ॥
धरातले यावदत्र यथावद् विधिना नराः ।
नाऽभ्यसेयुर्वितरितुं तावन्नाऽऽशा समुन्नतेः ॥ ८० ॥
सर्वेभ्यश्चान्यदेशेभ्यो भारते हि निरन्तरम् ।
संख्यातीतं देयवित्तं न च नो दीयते नरैः ॥ ८१ ॥
यदि तत्तामसेनैव भावेन हि वितीर्यते ।
आश्लिष्यन्ते पुमांसो हि तत एव विपत्तिभिः ॥ ८२ ॥
तत एव च दशोऽयमधिकं प्रच्यविष्यते ।
तस्माद्भाव्यं सदा दात्रा देशकालादिदर्शिना ॥ ८३ ॥
इति वः कथितं सर्वं यत्पृष्टोऽहं मुनीश्वराः ।
माहात्म्यं दानधर्मस्य किं भूयः श्रोतुमिच्छथ ॥ ८४ ॥

जैमिनिरुवाच ।

धर्माङ्गस्य द्वितीयस्य तपसस्तत्त्वमुत्तमम् ।
श्रावयित्वा कुरुष्वास्मान् कृतकृत्यान् कृपानिधे ! ॥ ८५ ॥

स्वजाति के मनुष्यों का कुछ भी कल्याण नहीं होता ॥ ७८ ॥ न उस की इस लोक में उन्नति ही होती है और न स्वधर्म का पालन ही होता है। इसलिये जब दान देना हो तब सावधानता के साथ शास्त्रोक्त रीति से ही देना चाहिये ॥ ७९ ॥ पृथ्वी पर यथा विधि दान करने को जब तक मनुष्य नहीं सीखेंगे. तब तक उन्नति की आशा नहीं है ॥ ८० ॥ सब देशों की अपेक्षा भारत में ही मनुष्य असंख्य धन का दान करते हैं ॥ ८१ ॥ परन्तु वही दान तामसिक भाव से दिया जायगा इसी से मनुष्य विपत्तियों से घिर जायँगे ॥ ८२ ॥ और इसी कारण से यह देश अधिक दुर्दशाग्रस्त होगा । इसलिये दाता को देश काल और पात्र का जाननेवाला होना चाहिये। हे मुनीश्वरो! आपने मुझसे जो पूछा वह दान धर्म का माहात्म्य मैंने सम्पूर्ण रूपसे कह दिया। अब पुनः आप क्या सुनना चाहते हैं ? ॥ ८३ ॥ ८४ ॥

महर्षि जैमिनि बोलेः—हे करुणासागर! धर्म के द्वितीय अङ्ग तप के

याज्ञवल्क्य उवाच।

कर्म चोपासना ज्ञानं यथैतत्साधनत्रयम्।
प्रधानञ्चोत्तमञ्चाहुर्धर्माङ्गेष्वखिलेष्वपि ॥ ८६ ॥
एवं तपोपि धर्मस्य साधनं मुनयो विदुः।
यद्रूपयुक्तं लोकेऽस्मिन्नत्यपेक्षितमेव च ॥ ८७ ॥
शरीरचित्तयोः सर्वसौख्यं त्यक्त्वा शनैः शनैः।
तयोर्निर्द्वन्द्वधर्मित्वापादनं तप उच्यते ॥ ८८ ॥
यथैकत्र दृढैः पाशैः पशोर्बद्धस्य सन्ततम्।
प्रवर्द्धन्तेऽधिकं कामवेगविक्रमशक्तयः ॥ ८९ ॥
एवं कायमनोऽक्षाणां वर्द्धते नितरां बलम्।
तपसि स्थापनादेव सुखभोगविवर्जनात् ॥ ९० ॥
श्रूयते या पुराणेषु मुनीनां शक्तिरद्भुता।
देवविस्मापिका सापि प्राप्तासीत् तपसा भुवि ॥ ९१ ॥

उत्तम तत्त्व को सुनाकर आप हमें कृतार्थ करें ॥ ८५ ॥

महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा :—सम्पूर्ण धर्माङ्गों में कर्म, उपासना और ज्ञान ये तीन साधन प्रधान और उत्तम कहे गये हैं ॥ ८६ ॥ इसी प्रकार तप भी धर्म का साधन है यह मुनिगण जानते हैं। संसार में तप अत्यन्त उपयुक्त और आवश्यक है ॥ ८७ ॥ शरीर और चित्त का सब प्रकार का सुख धीरे धीरे छोड़कर दोनों की निर्द्वन्द्व दशा प्राप्ति को तप कहते हैं ॥ ८८ ॥ एकही स्थान में मज़बूत रज्जु से निरन्तर बँधे हुए पशु की जिस प्रकार काम वेग और पराक्रम आदि की शक्तियाँ अधिक प्रबल हो जाती हैं ॥ ८९ ॥ उसी प्रकार काया मन और इन्द्रियों को तप में लगा देने से और उनके सुख भोग का त्याग करने से उनका बल अत्यन्त बढ़ जाता है ॥ ९० ॥ पुराणों में देवताओं को भी विस्मय में डालनेवाली मुनियों की जो अद्भुत शक्ति सुनी जाती है, वह उन्हें तप से ही पृथ्वी पर प्राप्त हुई थी

लोकोत्तरं हि लोकेऽस्मिन् दिव्यं तेजो महात्मसु ।
विभाव्यतेऽधुना काले तच्चापि तपसः फलम् ॥ ९२ ॥
ब्राह्मक्षात्रविभेदेन तेजो यद् द्विविधं मतम् ।
तपसा रक्ष्यते तत्र ब्राह्मं दानेन चापरम् ॥ ९३ ॥
पतिप्रीतिकरं ह्येकं शारीरं मानसं तपः ।
आचरन्ती गतिं साध्वी सुदुष्प्रापां समश्नुते ॥ ९४ ॥
मनोवाक्कायनिर्वर्त्यं पूर्वमुक्तं तपस्त्रिधा ।
तत्रैकमाचरन्त्येके द्वे वा सर्वाणि वापरे ॥ ९५ ॥
अङ्गस्य यस्य यस्यैव तपःशक्तिः समेधते ।
बाहुल्येन तदङ्गस्य शक्तिर्भावश्च वर्द्धते ॥ ९६ ॥
यथा वाक्तपसः सिद्ध्या बहुन्यन्यफलान्यपि ।
प्राप्नुयुर्वा न वा किन्तु वाचः सिद्धिस्तु जायते ॥ ९७ ॥
तपः शारीरकं देवगुरुप्राज्ञद्विजार्चनात् ।
सिद्ध्येच्छौचार्जवब्रह्मचर्याहिंसादिसेवनात् ॥ ९८ ॥

॥ ९१ ॥ इस वर्तमान समय में संसार में महात्माओं का जो लोकोत्तर दिव्य तेज दीख पड़ता है, वह भी तप का ही फल है ॥ ९२ ॥ ब्राह्म-तेज और क्षात्र तेज इस तरह से जो दो प्रकार के तेज हैं उनमें तप से ब्राह्मतेज की और दान से क्षात्र तेज की रक्षा होती है ॥९३॥ पतिप्रीतिकारी शारिरिक और मानसिक एक ही तप का यदि सती स्त्री आचरण करे तो उसे अतिदुर्लभ सद्गति मिलती है ॥ ९४ ॥ मन, वाणी और काया से किया जानेवाला तीन प्रकार का तप पहिले कहा गया है। उसमें से कोई एक, कोई दो और कोई तीनों प्रकार के तप का आचरण करते हैं ॥ ९५ ॥ जिसकी जिस अङ्ग की तपःशक्ति बढ़ती है, उसी अङ्ग की शक्ति और भाव विशेषरूप से वृद्धि को प्राप्त होते हैं ॥ ९६ ॥ जिस प्रकार वाचनिक तप की सिद्धि से अन्यान्य अनेक फल मिले या न मिले, किन्तु वाणी की सिद्धि अवश्य होगी ॥ ९७ ॥ देव, गुरु, विद्वान् द्विजों की पूजा और विनीत भाव, ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि से शारीरिक तप की सिद्धि होती है ॥

अनुद्वेजकसत्येष्टप्रियवाक्यप्रयोगतः ।
स्वाध्यायाभ्यसनाच्चेह संसिद्ध्येद् वाङ्मयं तपः ॥ ९९ ॥
सिद्ध्येन्मानसमद्वेपाद् ब्रह्मणि प्रणिधानतः ।
तुष्टिश्रद्धाभावशुद्धिधृतिमौनाऽस्तिकत्वतः ॥ १०० ॥
इति श्रीसन्न्यासगीतायां दानतपोधर्मनिरूपणं नाम तृतीयोऽध्यायः।

जैमिनिरुवाच ।

श्रुतौ सर्वविदस्माभिः प्राणिनां हितकारकौ ।
दानधर्म्मतपोधर्म्माविदानीं श्रावयस्व नः ॥ १ ॥
त्रीण्यङ्गानि प्रधानानि यज्ञधर्म्मस्य तत्त्ववित् ।
कर्मज्ञानोपासनानि गूढं चैतद् रहस्यकम् ॥ २ ॥
यज्ज्ञानादेव वेदस्य स्वरूपज्ञानमुत्तमम् ।
काण्डत्रयात्मकस्याऽपि तत्त्वेनैवोदयेदिह ॥ ३ ॥

॥ ९८ ॥ जिससे किसी को दुःख न हो ऐसे सत्य, इष्ट और प्रिय वाक्यों के प्रयोग से एवम् स्वाध्याय का अभ्यास करने से वाचनिक तप की सिद्धि होती है ॥ ९९ ॥ अद्वेष, ब्रह्म में प्रणिधान, तुष्टि, श्रद्धा, भावशुद्धि, धृति, मौन और आस्तिकता से मानसिक तप की सिद्धि होती है ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीसन्न्यास गीता का दानतपोधर्मनिरूपण नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ।

महर्षि जैमिनि बोलेः—हे सर्वज्ञ ! हमने जीवहितकारी दानधर्म और तपधर्म का श्रवण किया है । अब हे तत्त्ववित् ! यज्ञ धर्म के प्रधान तीनों अङ्गों को हमें सुनाइये अर्थात् कर्म, उपासना, ज्ञान और उनका गूढ़ रहस्य भी कहिये । जिस के जान लेने से काण्डत्रयात्मक वेदका उत्तम स्वरूपज्ञान होकर तत्त्व ज्ञान भी प्राप्त हो ॥ १-२-३ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच ।

काण्डत्रये कर्मकाण्डमतीव गहनं स्मृतम् ।
परमावश्यकं नृणां वर्तते चातिविस्तृतम् ॥ ४ ॥
न हि कर्म विना कोपि कुत्रापि स्थातुमर्हति ।
चराचरे व्याप्तमेतद् ब्रह्मेवेसत्र्यधार्यताम् ॥ ५ ॥
किन्तु तत्राचरेत्तद्धि यच्छास्त्रविहितं भवेत् ।
निषिद्धन्तु त्यजेद्दूराद्य इच्छेत् परमं हितम् ॥ ६ ॥
यथाऽस्य साधनानीह स्थूलात्स्थूलतराण्यपि ।
तथा सूक्ष्मतमा ह्यस्य संस्कारा बलवत्तराः ॥ ७ ॥
यावन्ति क्रियमाणानि कर्माणि प्राक्कृतान्यपि ।
चित्तेषु सूक्ष्मरूपेण विश्राम्यन्ति दृढं नृणाम् ॥ ८ ॥
यथा बीजे वृक्षरूपं लीनं कश्चित्समीक्षितुम् ।
प्रवर्तितोऽपि केनाऽपि क्षमते न विलोकितुम् ॥ ९ ॥
परं बीजं तदेवाम्बुमृद्योगं लभते यदि ।
तदा तस्मात् समुद्भूतो वृक्षः सर्वैरपीक्ष्यते ॥ १० ॥

महर्षि याज्ञवल्क्य बोलेः—तीनों काण्डों में कर्मकाण्ड अत्यन्त गहन है। यह बहुत विस्तृत होने पर भी मनुष्यों को अत्यन्त आवश्यक है॥४॥ कर्म के विना कोई कहीं भी नहीं रह सकता । यह ब्रह्म की तरह चराचर में व्याप्त है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ५ ॥ परन्तु जो शास्त्र विहित हों, उन्हीं कर्मों का आचरण करना चाहिये और जो अपने परम कल्याण की इच्छा रखते हों, उन्हें शास्त्रनिषिद्ध कर्मों का दूर से ही त्याग करना चाहिये ॥ ६ ॥ जिस प्रकार इसके स्थूल से भी स्थूल साधन होते हैं, उसी प्रकार इस की सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अति प्रबल अवस्था है उसे संस्कार कहते हैं ॥ ७ ॥ जितने क्रियमाण और पहिले किये हुए कर्म होते हैं, वे सब मनुष्यों के चित्त में सूक्ष्म रूप से रहते हैं ॥ ८ ॥ जैसे कोई बीज में स्थित वृक्ष का रूप देखने के लिये प्रवृत्त हो तो, वह देख नहीं सकता ॥ ९ ॥ परन्तु वही बीज यदि जल और मिट्टी पाजाय तो उससे उत्पन्न हुआ

तथा सर्वाणि कर्माणि मनोलीनानि देहिनाम् ।
अतिसौक्ष्म्यान्न शक्यन्ते स्मर्तुमज्ञैर्नरैः क्वचित् ॥ ११ ॥
शुभाशुभानि तान्येव बलवन्तीह जन्मनि ।
अन्यजन्मनि वा प्राप्य देशकालानुकूलताम् ॥ १२ ॥
यथायोग्यं यथाशक्ति शुभान्येवाशुभानि वा ।
अतर्कितान्यपीहाशु फलानि जनयन्ति हि ॥ १३ ॥
देवत्वञ्च नरत्वञ्च जीवास्तिर्यक्त्वमेव वा ।
कर्मभेदादेव लोके प्रपद्यन्ते पृथक् पृथक् ॥ १४ ॥
स्वर्गं भूमिं दुर्गतिञ्च जड़त्वं ज्ञानितामपि ।
प्राप्नुवन्तीह भूतानि कर्मणैवेति मे मतम् ॥ १५ ॥
कर्मक्षेत्रतयैवैतद् भारतं स्तूयते क्षितौ ।
अतश्चैवात्र वाञ्छन्ति जननं विबुधा अपि ॥ १६ ॥
यच्चार्यजातिरस्त्यत्र महामहिमशालिनी ।
तत्रापि मूलमत्रत्या विशिष्टा कर्मपद्धतिः ॥ १७ ॥

वृक्ष सब लोग देख लेते हैं ॥ १० ॥ वैसे ही प्राणियों के मन में सम्पूर्ण कर्म संस्कार रूप से विलीन रहते हैं । और वे अति सूक्ष्म होने से अज्ञानी मनुष्य उनका स्मरण नहीं रख सकते ॥ ११ ॥ वे ही बलवान् शुभ या अशुभ संस्कार रूप में स्थित कर्म इस जन्म में वा अन्य जन्म में देशकाल की अनुकूलता प्राप्त कर अतर्कित रूप से शीघ्र ही यथायोग्य और यथाशक्ति शुभ अथवा अशुभ फल देते हैं ॥ १२-१३ ॥ कर्मभेद के अनुसार संसार में जीवमात्र देवत्व, मनुष्यत्व और तिर्यक्त्व पृथक् पृथक् प्राप्त करते हैं ॥ १४ ॥ स्वर्ग, भूलोक, दुर्गति, जड़ता और ज्ञानीपन यह सब कर्म से ही प्राणिमात्र प्राप्त करते हैं, ऐसा मेरा मत है ॥ १५ ॥ कर्मक्षेत्र होने से ही पृथ्वी में भारतवर्ष की महिमा गाई जाती है और इसी से देवता भी भारत में जन्मग्रहण करने की इच्छा करते हैं ॥ १६ ॥ जो आर्य जाति यहांपर अत्यन्त प्रतापशालिनी है, इसका मूल कारण उसकी विशेष कर्मप्रणाली ही है ॥ १७ ॥

गर्भाधानादिसंस्कारैरियं ध्वस्तमनोमला ।
आजन्माऽनुष्ठितैः सद्भिः शुद्धा राजति कर्मभिः ॥ १८ ॥
लोके तत्तत् पुण्यकर्म यद्यत्स्यात्सत्त्ववर्द्धकम् ।
तमोविवर्द्धकं यद्यत्प्रोच्यते पापकर्म तत् ॥ १९ ॥
एतयोस्तारतम्येन वैलक्षण्यं मिथो गताः ।
लोकाः शास्त्रेषु विख्याता अध ऊर्ध्वं चतुर्दश ॥ २० ॥
विचित्रेयं कर्मशक्तिर्ययैकः सात्त्विकाश्रितः ।
नीयते हि पदं मुक्तेर्नरः संशुद्धमानसः ॥ २१ ॥
पापकर्माश्रयेणैव तमसा सुजडीकृतः ।
क्रमशश्चानयैवाशु पात्यते दुर्गतौ परः ॥ २२ ॥
अतोऽवश्यं मानवेन श्रेयः परममिच्छता ।
अवधेयं प्रयत्नेन सत्कर्माचरणे सदा ॥ २३ ॥
प्राचुर्यं कर्मणामेव ज्ञानादिभ्योऽत्र विष्टपे ।
विस्तृतिः कर्मकाण्डस्य वेदे तस्मात्समीक्ष्यते ॥ २४ ॥

गर्भाधानादि संस्कारों से इसके मनोमल हट गये हैं और जन्म से ही अच्छे कर्मों का अनुष्ठान करने से यह जाति शुद्ध स्वरूप में शोभा पा रही है ॥ १८ ॥ संसार में जो जो सत्त्वगुण के बढ़ानेवाले कर्म हों, वे पुण्यकर्म और जो तमोगुण की वृद्धि करनेवाले हों, वे पापकर्म कहे गये हैं ॥ १९ ॥ इन दोनों के तारतम्य से परस्पर वैलक्षण्य को प्राप्त होने से शास्त्रों में सात अधोलोक और सात ऊर्ध्व लोक मिलाकर चौदह लोक कहे गये हैं ॥ २० ॥ कर्म की शक्ति ऐसी विचित्र है कि सात्त्विक भाव का आश्रय करनेवाले शुद्धचित्त के मनुष्य को वह मुक्तिपद को पहुँचाती है और पापकर्म का आश्रय करने से तमोगुण के कारण जड़ भाव को पहुँचे हुए मनुष्य को वही क्रमशः दुर्गति में गिराती है ॥ २१-२२ ॥ अतः परमकल्याण चाहने वाले मनुष्य को बड़े यत्न के साथ अच्छे कर्मों का आचरण करने के विषय में निरन्तर अवश्य ही ध्यान रखना चाहिये ॥ २३ ॥ ज्ञानादि की अपेक्षा इस लोक में कर्मों की ही अधिकता होने से वेद में भी

निरूपितास्त्रयो भेदाः शास्त्रेष्वेतस्य कर्मणः ।
नित्यं नैमित्तिकं काम्यमितिवच्म्यथ लक्षणम् ॥ २५ ॥
विशिष्टं यदनुष्ठाने पुण्यं नाप्नोति मानवः ।
तन्नित्यं प्रत्यवायश्चाऽकरणे यस्य निश्चितः ॥ २६ ॥
यथा सन्ध्योपासनादावकृते प्रत्यवायिता ।
कृतेऽपि नियमेनैव पुण्यं किञ्चिन्न लभ्यते ॥ २७ ॥
कृते यस्मिन् फलप्राप्तिरकृते तु न पातकम् ।
एतन्नैमित्तिकं प्रोक्तं यथा तीर्थादिसेवनम् ॥ २८ ॥
काम्यं तत् कार्यसिद्ध्यर्थं सकामो विदधाति यत् ।
यथाऽनपत्यः पुत्रेष्टियागाद्यत्रानुतिष्ठति ॥ २९ ॥
एतेऽपि च त्रयो भेदाः कथिता मुनिभिः पुरा ।
आध्यात्मिकं तथा चाधिदैविकञ्चाधिभौतिकम् ॥ ३० ॥
क्रियते यत्स्वधर्मस्य स्वदेशस्योपकारकम् ।
ज्ञानानुशीलनं यत्र ज्ञेयमाध्यात्मिकं हि तत् ॥ ३१ ॥

कर्मकाण्ड का ही विस्तार देखा जाता है ॥ २४ ॥ शास्त्रों में ऐसे कर्म के तीन भेद कहे हैं। नित्य, नैमित्तक और काम्य। इन तीनों के लक्षण मैं कहता हूं ॥ २५ ॥ जिस कर्म का अनुष्ठान करने से मनुष्य को कोई विशेष पुण्य नहीं होता और न करने से प्रत्यवाय होता है, उसे नित्य कर्म कहते हैं ॥ २६ ॥ जैसे सन्ध्या न करने से प्रत्यवाय होता है और नियमपूर्वक करने से कोई विशेष पुण्य नहीं होता ॥२७॥ जिसके करने से फल होता है और न करने से पातक नहीं लगता, उसे नैमित्तिक कर्म्म कहते हैं। जैसे तीर्थयात्रासेवन आदि ॥ २८ ॥ काम्य कर्म उसे कहते हैं, जो कोई कामना मन में रखकर उस कार्य की सिद्धि के लिये किया जाता है। जैसे पुत्रहीन मनुष्य पुत्रेष्टि याग आदि का अनुष्ठान करते हैं ॥ २९ ॥ पूर्वकाल के मुनियों ने इसी तरह कर्म्मों के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रूप से तीन भेद भी कहे हैं ॥ ३० ॥ स्वधर्म और स्वदेश के उपकार के लिये ज्ञान का जो अनुशीलन किया जाता है उसे आध्यात्मिक कर्म्म

देवानां कार्यमुद्दिश्य यत्र यागादिकं भवेत् ।
तादृशं सकलं कर्म विज्ञेयं ह्याधिदैविकम् ॥ ३२ ॥
तच्चाधिभौतिकं कर्म सर्वभूतार्थमेव यत् ।
दीयतेऽत्राऽतिथिभ्योऽन्नं भोज्यन्ते ब्राह्मणादयः ॥ ३३ ॥
निष्कामतः कामतश्च सर्वाण्येतान्यपि द्विधा ।
तदेवं कर्ममाहात्म्यं गहनञ्चातिविस्तृतम् ॥ ३४ ॥
नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ ३५ ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ ३६ ॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ ३७ ॥
उभे सकामनिष्कामे कर्म्मणी प्रबले मते ।
प्रवृत्तिमूलकं त्वाद्यं निवृत्तिमूलकं परम् ॥ ३८ ॥

जानना चाहिये ॥ ३१ ॥ देवताओं के कार्य का उद्देश्य रखकर जो याग आदि कर्म किये जाते हैं वे आधिदैविक कर्म्म समझने चाहियें ॥ ३२ ॥ और प्राणिमात्र के लिये जो कर्म्म किया जाता है, जैसे अतिथि को अन्न देना या ब्राह्मणों को भोजन कराना आदि, यह सब आधिभौतिक कर्म्म हैं ॥ ३३ ॥ ये सभी कर्म निष्काम और सकाम इस प्रकार से द्विविध हैं । इसी से कर्म्ममाहात्म्य बड़ा गहन और विस्तृत है ॥ ३४ ॥ आसक्ति रहित होकर, नियमपूर्व्वक, राग और द्वेष शून्य हो, फलकी इच्छा न करके जो कर्म किया जाता है वह सात्त्विक कर्म है ॥ ३५ ॥ फलकी इच्छा करके अहङ्कारयुक्त होकर अत्यन्त आयोजन के साथ जो कर्म किया जाता है वह राजस कर्म है ॥ ३६ ॥ प्रतिबन्धक, हानि, हिंसा और पुरुषार्थ की अपेक्षा न करके अवज्ञा पूर्वक जो कर्म आरम्भ किया जाता है वह तामस कर्म है ॥३७॥ सकाम और निष्काम दोनों प्रकार के कर्म्म प्रबल कहे गये हैं । पहिला प्रवृत्तिमूलक और दूसरा निवृत्तिमूलक है ॥ ३८ ॥ प्रथम प्रवृत्ति-

प्रवृत्तिमूलकत्वेऽपि प्रथमस्य विशेषतः ।
प्रदातृत्वं ह्यभ्युदयस्याऽपवर्गस्य चोच्यते ॥ ३९ ॥
लोकं पितॄणां स्वर्गं च तद्वत्ते क्रमशः कृतम् ।
तथेन्द्रादिपदं श्रेष्ठं भोगाँश्चैवोर्द्ध्वलोकगान् ॥ ४० ॥
अत एव श्रुतावास्तेऽधिकं माहात्म्यमस्य हि ।
एतस्यैव बलाज्जीवा यान्ति देवर्षिपितृताम् ॥ ४१ ॥
अवतारा भगवतोऽप्येवं कर्म्माश्रिता मताः ।
निवृत्तिधर्म्ममूलस्य निष्कामस्य तु कर्म्मणः ॥ ४२ ॥
विलक्षणा गतिस्तात कथिता शास्त्रविस्तरे ।
गतिस्तेनैव सहजा जीवन्मुक्तिश्च लभ्यते ॥ ४३ ॥
कर्म्मणो हि प्रसादेन जीवन्मुक्ता नरा अपि ।
धृत्वेशस्य रताः कार्य्ये कुलालचक्रवद्वपुः ॥ ४४ ॥

मूलक होने पर भी विशेषतया वही अभ्युदय और स्वर्ग देनेवाला कहा जाता है ॥ ३९ ॥ क्रमशः किया हुआ प्रवृत्तिमूलक कर्म पितृलोक, स्वर्ग, इन्द्रादिका श्रेष्ठ पद और उर्ध्व लोकों के भोग प्राप्त कराता है, इसी से श्रुति में इसी का अधिक माहात्म्य वर्णन किया गया है । इसी के बल से जीवगण देवत्व ऋषित्व और पितृत्व को प्राप्त करते हैं ॥ ४०-४१ ॥ भगवान् के अवतार भी इसी का आश्रय करते हैं । और हे तात ! निवृत्तिधर्ममूलक निष्काम कर्म की गति शास्त्रों में विलक्षण कही गई है । उसी से सहज गति और जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है ॥ ४२-४३ ॥ कर्म के ही प्रसाद से जीवन्मुक्त मनुष्य भी शरीर धारण कर कुलाल के चक्र की तरह भगवान् के कार्य में लगे रहते हैं * ॥ ४४ ॥ संकल्प, विकल्प, जाति, आयु, भोगसमूह और प्रकृतिरूप से कर्मशक्ति निश्चय पूर्वक कर्मों में स्थित रहती है। इसी

---

* जीवन्मुक्ति को प्राप्त करके महात्मागण कुलालचक्र जिस प्रकार पहिले चलाई हुई गति से चलता रहता है, उसी प्रकार अपने प्रारब्ध को भोग करते हुए वे भगवान् के कार्य में लगे रहते हैं । इसी गति को सहज गति कहते हैं ।

संकल्पस्य विकल्पस्य जात्यायुर्भोगसंहतेः।
प्रकृते रूपतस्तेषु कर्म्मशक्तिः स्थिता ध्रुवम् ॥ ४५ ॥
अतः सर्वप्रधानेयं दुर्ज्ञेयाऽभ्यधिकं मता।
कर्म्मणां गतिवेत्तारः सर्वज्ञाः सम्मता भुवि ॥ ४६ ॥
कर्म्मण्युपास्तौ ज्ञाने च ह्यङ्गोपाङ्गान्विताः सदा।
धर्म्माः सर्वेऽन्तर्भवन्ति ततो वेदस्त्रिकाण्डकः ॥ ४७ ॥
उपासनेशसान्निध्यप्राप्तिहेतुरिहोच्यते।
ब्रह्मस्वरूपज्ञानस्योपायानां वर्णनं खलु ॥ ४८ ॥
ज्ञानकाण्डे महाभागाः स्फुटमस्तीह विस्तरात्।
सच्चिदानन्दरूपस्य ब्रह्मणः समुपासना ॥ ४९ ॥
तथा सगुणमूर्त्तेश्च तस्यैव हि महर्चिषः।
लीलाविग्रहरूपस्य तस्यैव परमेशितुः ॥ ५० ॥
देवानाञ्च ऋषीणाञ्च पितॄणामपि सर्वथा।
तत्प्रत्यक्षविभूतीनामुपास्तिर्मुनिपुङ्गवाः ॥ ५१ ॥
वर्णितोपासनाकाण्डेऽस्तीत्येतदवधार्य्यताम्।
निम्नाधिकारिणां प्रोक्ता निम्नाऽनेका ह्युपासनाः ॥ ५२ ॥

से यह कर्म शक्ति सर्व प्रधान होने पर भी अत्यन्त दुर्ज्ञेय है। कर्म की गति को जानने वाले संसार में सर्वज्ञ कहाते हैं॥ ४४-४६ ॥ कर्म, उपासना और ज्ञान में धर्म के सब अङ्ग उपाङ्ग अन्तर्भुक्त हो जाने से वेद त्रिकाण्डक हैं ॥ ४७ ॥ भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करने की कारणस्वरूप उपासना कही गई है और इसमें ब्रह्म के स्वरूप साक्षात्कार के उपायों का वर्णन है ॥ ४८ ॥ हे महाभाग ! सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म की उपासना का वर्णन ज्ञानकाण्ड में विस्तार के साथ स्पष्ट रीति से किया गया है ॥ ४९ ॥ और उसी महान् तेजोमय ब्रह्म की सगुण मूर्ति की उपासना, उसी परमात्मा के लीलाविग्रहरूप की उपासना, उनकी प्रत्यक्ष विभूतियाँ देवता, ऋषि और पितृगण की उपासना विधि, हे मुनिश्रेष्ठो ॥ ५०-५१ ॥ उपासनाकाण्ड में वर्णित है, यह बात ध्यान में रखना चाहिये । निम्नाधिकारियों के लिये अनेक

तामसीनाञ्च शक्तीनां तस्यैव परमात्मनः।
शरीरं योगमार्गो वै भक्तिः स्यात् प्राणरूपिका ॥ ५३ ॥
आहुस्तूपासनाकाण्डस्येदृक्तत्त्वमृषीश्वराः।
योगः क्रियामूलकस्याद्भक्तिस्तु भावमूलिका ॥ ५४ ॥
मन्त्रो हठो लयो राजश्चतुर्धा योग ईरितः।
भक्तिस्तु त्रिविधा प्रोक्ता गौणी रागात्मिका परा ॥ ५५ ॥
निर्गुणोपासना याऽस्ति ब्रह्मणो वेदमूर्द्धसु।
सर्वासूपनिषत्स्वास्तेऽधिकारो न्यासिनामिह ॥ ५६ ॥
वेदस्य ज्ञानकाण्डस्तु सप्तधा परिकीर्त्तितः ॥
सप्तानां ज्ञानभूमीनामानुकूल्येन साधवः ॥ ५७ ॥
सर्व एव यतन्तेऽत्र स्वाऽधिकारानुसारतः।
सच्चिदानन्दरूपस्य ब्रह्मणो रूपवर्णने ॥ ५८ ॥
सर्वेषां कथनं वेदानुकूल्यमिह विन्दते।
तत्त्वातीतं पदं तद्वद्वाङ्मनसगोचरम् ॥ ५९ ॥

निम्न श्रेणी की उपासनाएँ कही गई हैं ॥ ५२ ॥ जो उसी परमात्मा की तामसिक शक्तियों की उपासना है। उपासना का शरीर योग-मार्ग है और भक्ति उसका प्राण है ॥ ५३ ॥ महर्षियों ने उपासना काण्ड का इस प्रकार तत्त्व कहा है। योग क्रियामूलक और भक्ति भावमूलक है ॥ ५४ ॥ मन्त्रयोग, हठयोग, लय योग और राजयोग इस प्रकार चतुर्विध योग कहे गये हैं। और गौणी, रागात्मिका एवम् परा इस प्रकार से भक्ति भी त्रिविध कही गई है ॥ ५५ ॥ ब्रह्म की निर्गुण उपासना जो वेदों में और सब उपनिषदों में कही गई है, उसका अधिकार केवल सन्न्यासियों को ही है ॥ ५६ ॥ वेद का ज्ञानकाण्ड सप्तविध है। सभी साधुगण सात ज्ञान भूमियों की अनुकूलता से अपने अपने अधिकारानुसार सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म का स्वरूप वर्णन करने में यत्न करते हैं ॥ ५७-५८ ॥ सबका कथन वेद के अनुकूल है। मन और वाणी से अगोचर तत्त्वातीत जो पद है, उस को जानने के लिये शब्द और भाव की सहायता से सभी प्रयत्न करते हैं। हे जिज्ञासुओ ! ज्ञान के सप्तविध साधनों के स्वतः आश्रय स्वरूप

सर्वे ज्ञातुं यतन्ते वै साहाय्याच्छब्दभावयोः ।
ज्ञानस्य साधनानान्तु सप्तानामाश्रयाः स्वतः ॥ ६० ॥
सप्त दर्शनशास्त्राणि कथ्यन्तेऽत्र बुभुत्सवः ।
शास्त्राणामन्तिमं प्रोक्तं शास्त्रं वेदान्तमुत्तमम् ॥ ६१ ॥
अत एवाऽधिकारोऽस्ति केवलं न्यासिनामिह ।
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ॥ ६२ ॥
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ॥ ६३ ॥
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ॥ ६४ ॥
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ६५ ॥

इति श्रीसन्न्यासगीतायां कर्म्मोपासनाज्ञान-
निरूपणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ।

सप्त दर्शन शास्त्र कहे जाते हैं । और उन सातों शास्त्रों का अन्तिम एवम् उत्तम वेदान्त शास्त्र कहा गया है ॥ ५९-६१ ॥ वेदान्त शास्त्र का केवल सन्न्यासियों को ही अधिकार है ॥ विभाग किये हुए सब संसार में अविभक्त एक अव्ययभाव जिसके द्वारा दिखाई देता है वह सात्विक ज्ञान है ॥ जो ज्ञान संसार के पदार्थों को पृथक् पृथक् रूप से दिखाता है और नाना प्रकार के पृथक् पृथक् भावों का द्योतक है वह राजसज्ञान है ॥ जो ज्ञान मूर्खों के समान एक कार्य्य में आसक्ति कराता है, हेतुरहित है, सार हीन है और क्षुद्र है वह तामस ज्ञान कहलाता है ॥ ६२-६५ ॥

इस प्रकार श्री सन्न्यास गीता का कर्मोपासनाज्ञान
निरूपण नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

ऋषय ऊचुः।

धर्म्मज्ञ गतिवेत्ताऽसि त्वमेव कालकर्म्मणोः।
भवतः कृपया धर्म्मरहस्यं श्रुतमुज्ज्वलम् ॥ १ ॥
अङ्गोपाङ्गयुतं गूढं श्रुतिमूलमिदं हितम्।
भवतोऽन्तिमसिद्धान्ताज्ज्ञातमस्माभिरानतैः ॥ २ ॥
निवृत्तिमार्गनिष्कामकर्म्मणोः सर्वथा त्तमः।
सन्न्यासधर्म्म एवाऽस्ति सर्व्वश्रेष्ठोऽत्र भूतले ॥ ३ ॥
सन्न्यासाश्रम उक्ताँस्तान् धर्म्मांस्तत्र महाऋषे।
विहितानि च कर्म्माणि श्रावयाऽस्मानतोऽधुना ॥ ४ ॥
सन्न्यासिनां भवान् श्रेष्ठः जगतां गुरुरेव च।
उपदेष्टा भवेत् कोऽन्यस्त्वत्तोऽन्यो धर्म्मशिक्षणे ॥ ५ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच।

सन्न्यासधर्म्मनिर्वाहो दुर्गमः परिकीर्त्तितः।
अत एव त्रिकालज्ञा ऋषयो मुनयस्तथा ॥ ६ ॥
सन्न्यासग्रहणे सर्व्वे सङ्कोचं चक्रिरे सदा।
अतो वर्णगुरुर्विप्रः सन्न्यासी तद्गुरुः स्मृतः ॥ ७ ॥

ऋषिगण बोले:-हे धर्मज्ञ! आप ही काल और कर्म की गति जानते हैं। आपकी कृपा से अङ्ग उपाङ्गों सहित उज्वल श्रुति का मूल स्वरूप और परम हितकारी धर्म का रहस्य हमलोगों ने सुना है। आपके अन्तिम सिद्धान्त से हम विनीतों को यह ज्ञात हुआ कि निवृत्ति मार्ग और निष्काम कर्म के योग्य एक सन्यास धर्म ही इस पृथ्वी पर सब से श्रेष्ठ है ॥ १-३ ॥ हे महर्षे! सन्न्यासाश्रम में कौन से धर्म और कर्म कहे गये हैं, उन्हें इस समय हमें सुनाइये ॥ ४ ॥ आप जगद्गुरु और सन्न्यासियों में श्रेष्ठ हैं। आप से बढ़कर धर्मशिक्षा देने में दूसरा कौन उपदेष्टा हो सकता है? ॥ ५ ॥

महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा:-सन्न्यास धर्म्म का निर्वाह अत्यन्त कठिन कहा गया है। इसलिये त्रिकालज्ञ ऋषि मुनि भी ॥ ६ ॥ सन्न्यास ग्रहण करने में सभी सदा संकोच करते हैं। वर्ण गुरु ब्राह्मण

विप्राणामेव तत्राऽस्ति सन्न्यासेऽधिकृतिः शुभा ।
अवस्थायां चतुर्थ्यां या सततं श्रुतिसम्मता ॥ ८ ॥
भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नरा श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ ९ ॥
ब्राह्मणेषु तु विद्वाँसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्त्तारः कर्त्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ १० ॥
तच्छ्रुत्वा विज्ञवर्य्याणां मुनीनां तत्र तस्थुषां ।
ऋषीणाञ्च विचारोऽभूत्प्रश्नो नाऽन्येन सम्भवेत् ॥ ११ ॥
शुकं विहाय धर्म्मेऽस्मिन् गहने तूर्द्ध्वरेतसम् ।
जैमिन्याद्यास्तदा सर्वे शुकदेवं महामुनिम् ॥ १२ ॥
ऋषयः प्रार्थयामासुः जिज्ञासा क्रियतामिति ।
सन्न्यासाश्रमधर्म्माणां त्वं नः प्रतिनिधिर्भव ॥ १३ ॥

शुक उवाच ।

सन्न्यासाश्रमधर्म्माणां कलिकालोपयोगिनाम् ।
तत्त्वं नो ब्रूहि सर्वज्ञ पितुर्यस्माच्छ्रुतं मया ॥ १४ ॥

और उनके भी गुरु सन्यासी हैं॥७॥अतः सन्यास ग्रहण करने का पवित्र आधिकार ब्राह्मणों को ही है। और वह भी वेदों के मत से चतुर्थ अवस्था में है ॥ ८ ॥ भूतों में प्राणी श्रेष्ठ हैं और प्राणियों में भी बुद्धि-जीवी प्राणी श्रेष्ठ हैं । बुद्धिमान् प्राणियों में मनुष्य श्रेष्ठ हैं और मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं ॥ ९ ॥ ब्राह्मणों में विद्वान् श्रेष्ठ और विद्वानों में कृतबुद्धि श्रेष्ठ हैं । कृतबुद्धियों में कर्ता श्रेष्ठ और कर्ताओं में ब्रह्मवादी श्रेष्ठ हैं ॥ १० ॥ यह सुन कर वहाँ बैठे हुए विज्ञवर ऋषि मुनियों का विचार हुआ कि इस गहन धर्म के सम्बन्ध में उर्ध्वरेता शुक देव के विना कोई प्रश्न करने में समर्थ नहीं है । इस कारण जैमिनी आदि ऋषिगण ने महामुनि शुकदेव से प्रार्थना की कि आप हमारे प्रतिनिधि होकर सन्न्यासाश्रम धर्म के सम्बन्ध में जिज्ञासा कीजिये ॥ ११-१३ ॥

श्री शुकदेव जी बोले:-हे सर्वज्ञ ! कलिकाल के उपयोगी सन्न्यासाश्रमधर्म का तत्त्व आप हमें सुनाइये । क्योंकि मैंने पिताजी

अहो दुरत्ययः कालस्तथा कालाऽनुसारिणाम् ।
धर्म्माणां साधनेनैव सुखं सामान्यप्राणिनाम् ॥ १५ ॥
कलौ धर्म्मस्यैकपादो गाम्भीर्य्यो नो भविष्यति ।
एतदन्यदपि श्रुत्वा भवन्तं प्रार्थयामहे ॥ १६ ॥
कलेर्निवृत्तिधर्मस्याऽप्युच्यतां रूपमीश्वर ॥ १७ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच ।

महान्तोऽपि च धर्म्मज्ञा अधर्मं कुर्वते मुने ! ॥
कलिस्वभाव एवैष परिहार्य्यो न केनचित् ॥ १८ ॥
तस्मादत्र मनुष्याणां स्वभावात्पापकारिणाम् ।
निष्कृतिर्न हि विप्रेन्द्र ! सामान्योपायतो भवेत् ॥ १९ ॥
यः कश्चिदपि धर्म्मात्मा यज्ञं दानं करोति च ।
यः कश्चिदपि धर्म्मात्मा क्रियायोगरतो भवेत् ॥ २० ॥

के मुख से यह सुना है ॥ १४ ॥ कि काल बड़ा कठिन है और कालानुसार धर्म-साधन के विना सामान्य प्राणियों को सुख नहीं होता ॥ १५ ॥ कलि में धर्म का एक ही पाद रहेगा और उसकी भी गम्भीरता नहीं रहेगी । यह बात और अन्य बातें भी सुनकर हम आपसे प्रार्थना करते हैं ॥ १६ ॥ हे ईश्वर ! कलिकाल के उपयोगी निवृत्तिधर्म के रूप को आप कहिये ॥ १७ ॥

महर्षि याज्ञवल्क्य बोलेः-हेमुने ! कलि का ऐसा स्वभाव ही है कि बड़े बड़े धर्मात्मा भी कलिकाल में अधर्माचरण करते हैं। और यह विषय किसी के रोके रुक नहीं सकता ॥ १८ ॥ अतः हे विप्रेन्द्र ! इस प्रकार के पापाचारी मनुष्यों के स्वभाव की निष्कृति सामान्य उपायों से नहीं हो सकती * ॥ १९ ॥ कोई धर्मात्मा यज्ञ और दान करेगा या कोई धर्मात्मा क्रिया-योग में रत रहेगा ॥ २० ॥ तो ऐसे

---

* इस वचन का सिद्धान्त यह है कि काल-शक्ति को रोकना सम्भव तो है परन्तु साधारण पुरुषार्थ से नहीं रुक सकती । कलिकाल में धर्मसाधन बनेगा, परन्तु असाधारण पुरुषार्थ से बनेगा ।

नरं धर्म्मरतं दृष्ट्वा सर्वेऽसूयां प्रकुर्वते ।
व्रताचाराः प्रणश्यन्ति ध्यानयज्ञादयस्तथा ॥ २१ ॥
उपद्रवा भविष्यन्ति चाऽधर्म्मस्य प्रवर्त्तनात् ।
असूयानिरताः सर्वे दम्भाचारपरायणाः ॥ २२ ॥
प्रजाश्चाल्पायुषः सर्वा भविष्यन्ति कलौ युगे ।
उत्तमा नीचतां यान्ति नीचाश्चोत्तमतां तथा ॥ २३ ॥
राजानश्चाऽर्थनिरतास्तथा लोभपरायणाः ।
धर्म्मकञ्चुकसंवीता धर्म्मविध्वंसकारिणः ॥ २४ ॥
किङ्कराश्च भविष्यन्ति शूद्राणाञ्च द्विजातयः ।
धर्म्मस्त्रियं न गच्छन्ति पतयो जारलक्षणाः ॥ २५ ॥
द्विषन्ति पितरं पुत्रा गुरुं शिष्या द्विषन्ति च ।
पतिञ्च वनिता द्वेष्टि कलौ पापिनि चाऽऽगते ॥ २६ ॥
वेश्यालावण्यशीलेषु स्पृहां कुर्व्वन्ति योषितः ।
धर्म्मविघ्ना भविष्यन्ति स्त्रियः स्वपुरुषेषु च ॥ २७ ॥
न व्रतानि चरिष्यन्ति ब्राह्मणा वेदनिन्दकाः ।
न यक्ष्यन्ति न होष्यन्ति हेतुवादैर्विनाशिताः ॥ २८ ॥

धर्मरत पुरुष को देख कर उससे कलियुग में सभी द्वेष करेंगे। इस कारण ध्यान, यज्ञादि व्रताचार नष्ट होंगे ॥२१॥ कलि में अधर्म प्रचार से नाना प्रकार के उपद्रव होंगे। सभी दम्भाचारी और द्वेष में निमग्न रहेंगे॥२२॥ कलियुग में सब प्रजा अल्पायु होगी, उत्तम पुरुष नीचे बनेंगे और नीच उत्तमता को प्राप्त करेंगे॥२३॥ राजन्यगण लोभी अर्थनिरत और ऊपर से धार्मिकता का ढोंग दिखाकर धर्म का नाश करनेवाले होंगे ॥ २४ ॥ ब्राह्मण शूद्रों के दास बनेंगे। व्यभिचारी पुरुष धर्मपत्नी से सम्बन्ध नहीं रक्खेंगे ॥ २५ ॥ पुत्र पिता से और शिष्य गुरु से द्रोह करेंगे। और जब पापी कलि आजायगा, तब कुलस्त्रियां पति से द्वेष करेंगी। वेश्याओं के लावण्य और शीलता की इच्छा करेंगी और अपने पति के धर्मकार्य की विघ्नस्वरूप बनेंगी ॥ २६-२७ ॥ ब्राह्मण वेदनिन्दक होकर व्रतों का आचरण नहीं करेंगे। और नास्तिकता से नष्ट होकर यज्ञ और हवन नहीं करेंगे ॥ २८ ॥ पितृ

द्विजाः कुर्व्वन्ति दम्भार्थं पितृयज्ञादिकाः क्रियाः।
अपात्रेषु च दानानि कुर्व्वन्ति च तथा नराः ॥ २९ ॥
क्षीरोपायनिमित्तेषु गोषु प्रीतिञ्च कुर्व्वते।
दानयज्ञजपादीनां विक्रीणीते फलं द्विजाः ॥ ३० ॥
प्रतिग्रहं प्रकुर्व्वन्ति चाण्डालाद्यैरपि द्विजाः।
न च द्विजातिशुश्रूषां न स्वधर्मप्रवर्त्तनम् ॥ ३१ ॥
करिष्यन्ति तदा शूद्रा प्रव्रज्यालिङ्गिनोऽधमाः।
ततश्चाऽनुदिनं धर्म्मः सत्यं शौचं क्षमा दया ॥ ३२ ॥
कालेन वलिना प्राज्ञाः! नङ्क्ष्यत्यायुर्वलं स्मृतिः।
वित्तमेव कलौ नृणां जन्माचारगुणोदयः ॥ ३३ ॥
धर्म्मन्यायव्यवस्थायां कारणं वलमेव हि।
दाम्पत्येऽभिरुचिर्हेतुर्मायैव व्यावहारिके ॥ ३४ ॥
स्त्रीत्वे पुँस्त्वे च हि रतिर्विप्रत्वे सूत्र मेव हि।
लिङ्गमेवाऽऽश्रमख्यातावन्योन्यापत्तिकारणम् ॥ ३५ ॥

यज्ञ आदि क्रियाएं द्विजमात्र केवल दम्भ दिखाने के लिये करेंगे और मनुष्य अपात्र में दान करेंगे ॥ २९ ॥ केवल दूध के लिये गौसे प्रीति करेंगे और ब्राह्मण दान, यज्ञ, जप आदि का विक्रय करेंगे। ॥ ३० ॥ और चाण्डाल आदि से भी प्रतिग्रह करेंगे, संन्यास का स्वांग बनानेवाले अधम शूद्र द्विजाति की सेवा नहीं करेंगे और अपने धर्म का आचरण नहीं करेंगे। दिन प्रतिदिन बलवान् कलि-काल के प्रभाव से धर्म, सत्य, शौच, क्षमा, दया ॥ ३१-३२ ॥ आयु, बल, स्मृति आदि नष्ट होंगे और कलि में वित्त ही मनुष्यों का कुल, आचार एवम् गुण का परिचायक होगा ॥ ३३ ॥ धर्माचार-व्यवस्था में बल ही कारण होगा। अभिरुचि ही दाम्पत्य सम्बन्ध में कारणीभूत होगी। व्यवहार में कपट ही कारण होगा। प्रेम के लिये केवल स्त्रीत्व और पुंस्त्व ही पर्याप्त रहेगा। केवल यज्ञोपवीत ही ब्राह्मणत्व का द्योतक होगा। आश्रम का द्योतक केवल वेश ही होगा। और वह भी आपस के द्वेष का

अवृत्त्या न्यायदौर्बल्यं पाण्डित्ये चापलं वचः।
अनाढ्यतैवाऽसाधुत्वे साधुत्वे दम्भ एव तु॥ ३६॥
स्वीकार एव चोद्वाहे स्नानमेव प्रसाधनं।
दूरेवार्य्ययनं तीर्थं लावण्यं केशधारणम्॥ ३७॥
उदरम्भरता स्वार्थः सत्यत्वे धार्ष्ट्यमेव हि।
दाक्ष्यं कुटुम्बभरणं यशोऽर्थे धर्म्मसेवनम्॥ ३८॥
एवं प्रजाभिर्दुष्टाभिराकीर्णे क्षितिमण्डले।
ब्रह्मविट्क्षत्रशूद्राणां यो बली भविता नृपः॥ ३९॥
प्रजा हि लुब्धै राजन्यैर्निर्घृणैर्दस्युधर्मभिः।
आच्छिन्नदारद्रविणा यास्यन्ति गिरिकाननम्॥ ४०॥
शाकमूलामिषक्षौद्रफलपुष्पाष्टिभोजनाः।
अनावृष्ट्या विनंक्ष्यन्ति दुर्भिक्षकरपीडिताः॥ ४१॥
प्रमादिनो वहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः।
न्यासिनोऽपि भविष्यन्ति दैवसन्दूषिताशयाः॥ ४२॥

कारण होगा। जीविका के अभाव से अन्याय होने लगेगा। वक्वाद करना ही पाण्डित्य माना जायगा। आडम्बरहीन असाधु समझा जायगा और दम्भी साधु माना जायगा। दम्पति का परस्पर स्वीकार ही विवाह समझा जागया और स्नान करने मात्र से शृंगार होगा, कुछ दूर से लाया हुआ जल ही तीर्थ समझा जायगा। और केश रखना ही लावण्यता का कारण होगा॥ ३४-३७॥ पेट भरना ही स्वार्थ की अवधि होगी। धृष्टता ही सत्यता का लक्षण होगा। कुटुम्बपोषण ही चातुर्य की सीमा होगी और यश के वास्ते धर्म सेवन होगा॥ ३८॥ इस प्रकार दुष्ट प्रजा से भूमण्डल आकीर्ण हो जाने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों में जो वली होगा वही राजा वनेगा॥ ३९॥ निर्घृण और दस्युधर्म वाले राजाओं द्वारा धन और स्त्रियों का अपहरण होने पर प्रजा गिरि काननों में चली जायगी और शाक, मूल, मांस, क्षुद्र फल, पुष्पादि खाती हुई अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, कर आदि से पीडित होकर अन्त में मर जायगी॥ ४०-४१॥ दैव से जिनके स्वभाव दूषित हो गये हैं, ऐसे संन्यासी भी प्रमादी,

यदा सन्न्यासिनः सर्व्वे क्षात्रवृत्तिं समाश्रिताः ।
वैश्यवृत्तिश्च मुनयः ! तदैव प्रबलः कलिः ॥ ४३ ॥
यदा सन्न्यासिनो भूमौ कुसीदग्रहणे रताः ।
गृहिवन्मन्दिरक्षेत्रमठनिर्म्माणतत्पराः ॥ ४४ ॥
भविष्यन्ति हि विप्रेन्द्राः ! तदैव प्रबलः कलिः ।
तपोयोगविरागेभ्यः परावृत्य यदा रताः ॥ ४५ ॥
कामिनीकाञ्चनेष्वेते तदैव प्रबलः कलिः ।
ब्रह्मचर्य्यमकृत्वैव वानप्रस्थं विना तथा ॥ ४६ ॥
गृहस्था न्यासिनः स्युश्चेत्तदैव प्रबलः कलिः ।
सर्वे वर्णा भविष्यन्ति यदा सन्न्यासदम्भिनः ॥ ४७ ॥
युष्माभिस्तर्हि विज्ञेयस्तदैव प्रबलः कलिः ।
सन्न्यासलिङ्गमाश्रित्य शूद्राद्या ब्राह्मणैर्यदा ॥ ४८ ॥
कारयिष्यन्त्यङ्घ्रिपूजां तदैव प्रबलः कलिः ।
सन्न्यासिष्वपि भेदश्चेज्जातेः पङ्क्तेर्भविष्यति ॥ ४९ ॥

चञ्चलचित्त, खल और कलहोत्सुक होजायंगे ॥ ४२ ॥ जब संन्यासी प्रायः क्षात्रवृत्ति और वैश्यवृत्ति का आश्रय करेंगे तब हे मुनिगण ! समझना चाहिये कि कलि प्रबल होगया है ॥ ४३ ॥ जब सन्न्यासी पृथ्वी पर सूद ग्रहण में रत होकर गृहस्थों की तरह मन्दिर, क्षेत्र, मठ आदि के निर्माण में तत्पर होंगे, तब हे विप्रेन्द्रों ! समझना चाहिये कि कलि प्रबल हो गया है। तप योग और वैराग्य से मुँह मोड़कर जब वे कामिनी काञ्चन में रत हो जायंगे, तब समझना चाहिये कि कलि प्रबल हो गया है। जब बिना ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ का पालन किये गृहस्थ सन्न्यासी बनने लगेंगे तब समझना चाहिये कि कलि प्रबल हो गया है। सभी वर्ण जब संन्यास का ढोंग रचने लगेंगे ॥४४-४७॥ तब आपलोग समझलें कि कलि प्रबल होगया है। सन्न्यासियों का स्वांग बनाकर शूद्रादि जब ब्राह्मणों से पैर पुजवाने लगेंगे, तब समझना चाहिये कि कलि प्रबल होगया है। संन्यासियों में जब जाति और पंक्ति का भेद होगा एवम् जब सन्न्यासियों के सम्प्रदाय

सम्प्रदाये तथा पन्थे विभागो बहुशो यदा।
सन्न्यासिनाञ्च भविता तदैव प्रबलः कलिः ॥ ५० ॥
सद्गृहस्था दरिद्राः स्युर्धनाढ्या न्यासिनो यदा।
सन्न्यासधर्म्मनिरता भिक्षां प्राप्स्यन्ति नैव हि ॥ ५१ ॥
छद्मसन्न्यासिनो ह्येव प्राप्स्यन्त्यादरमुत्तमम्।
सुप्रज्ञाभिस्तु परिज्ञेयस्तदैव प्रबलः कलिः ॥ ५२ ॥
क्षुद्रसिद्ध्या तथौषध्या कपटाचरणेन च।
वशीकरणतश्चाऽपि सामुद्रिकविधानतः ॥ ५३ ॥
सन्न्यासिनो भविष्यन्ति यदा मान्या धरातले।
वैराग्यज्ञानयोगानां तथा तेष्वादरो न हि ॥ ५४ ॥
विज्ञेयो ज्ञानसम्पन्नास्तदैव प्रबलः कलिः।
ज्ञानवृद्धतपोवृद्धपूजा ह्रासत्वमेष्यति ॥ ५५ ॥
आध्यात्मिकत्ववैराग्यादरो नैव भविष्यति।
यदा न्यासिषु वै धीरास्तदैव प्रबलः कलिः ॥ ५६ ॥
यदा तु वैदिकी दीक्षा दीक्षा पौराणिकी तथा।
न स्थास्यति महाभागास्तदैव प्रबलः कलिः ॥ ५७ ॥

और पन्थों के अनेक विभाग हो जायंगे, तब समझना चाहिये कि कलि प्रबल होगया है॥ ४८-५० ॥ सद्गृहस्थ दरिद्र और संन्यासी धनी बनेंगे, संन्यासधर्म में जो निरत हो वे भिक्षा भी प्राप्त नहीं करेंगे और कपटी सन्न्यासी उत्तम आदर के पात्र बनेंगे, तब आपलोग समझलें कि कलि प्रबल होगया है ॥ ५१-५२ ॥ क्षुद्र सिद्धियां, औषधिप्रयोग, कपटाचार, वशीकरण और सामुद्रिकविधान आदि से जब सन्न्यासीगण पृथ्वी में माननीय बनेंगे; वैराग्य, ज्ञान और योग का उनमें आदर नहीं रहेगा, हे ज्ञानसम्पन्न सत्पुरुषों! तब जानना चाहिये कि कलि प्रबल होगया है! ज्ञानवृद्ध और तपोवृद्ध पुरुषों की पूजा का जब ह्रास हो जायगा और संन्यासियों में आध्यात्मिकभाव तथा वैराग्य का कुछ भी आदर नहीं रहेगा तब हे धीर पुरुषो! समझना चाहिये कि कलि प्रबल हो गया है॥५३-५६॥ जब वैदिकी या पौराणिकी दीक्षाका क्रम नहीं रहेगा, तब

यदा तु पुण्यपापानां परीक्षा वेदसम्भवा।
न स्थास्यति महाभागास्तदैव प्रबलः कलिः॥ ५८॥
क्वचिच्छिन्ना क्वचिद्भिन्ना यदा सुरतरङ्गिणी।
भविष्यति महाभागास्तदैव प्रबलः कलिः॥ ५९॥
यदा तु म्लेच्छजातीया राजानो धनलोलुपाः।
भविष्यन्ति महाप्राज्ञास्तदैव प्रबलः कलिः॥ ६०॥
यदा स्त्रियोऽतिदुर्दान्ताः कर्कशाः कलहे रताः।
गर्हिष्यन्ति च भर्त्तारं तदैव प्रबलः कलिः॥ ६१॥
यदा तु मानवा भूमौ स्त्रीजिताः कामकिङ्कराः।
द्विषन्ति गुरुमित्रादीन् तदैव प्रबलः कलिः॥ ६२॥
यदा क्षोणी स्वल्पफला तोयदाः स्तोकवर्षिणः।
असम्यक् फलिनो वृक्षास्तदैव प्रबलः कलिः॥ ६३॥
भ्रातरः स्वजनामात्या यदा धनकणेहया।
मिथः संप्रहरिष्यन्ति तदैव प्रबलः कलिः॥ ६४॥

हे महाभाग! समझना चाहिये कि कलि प्रबल हो गया है॥ ५७॥ जब वेदोक्त रीति से पुण्य पाप की परीक्षा नहीं रहेगी तब हे महाभाग! समझना चाहिये कि कलि प्रबल हो गया है॥ ५८॥ जब कहीं छिन्न, कहीं भिन्न गङ्गा नदी हो जायगी, तब हे महाभाग! कलि प्रबल होजायगा॥ ५९॥ जब म्लेच्छ जाति के राजा होंगे और वे धनलोलुप होंगे, तब हे महाप्राज्ञो! समझना चाहिये कि कलि प्रबल हो गया है॥ ६०॥ जब स्त्रियाँ दुर्दान्त, कर्कशा और कलह में रत होकर पति की निन्दा करने लगेंगी तब समझना चाहिये कि कलि प्रबल हो गया है॥ ६१॥ जब पृथ्वी पर मनुष्यमात्र स्त्रीजित और काम के गुलाम बनकर गुरु एवम् मित्रादि से द्वेष करने लगेंगे, तब समझना चाहिये कि कलि प्रबल हो गया है॥ ६२॥ जब पृथ्वी उपजाऊ नहीं रहेगी, मेघ वर्षा कम करेंगे, वृक्ष अच्छे नहीं फलेंगे, तब समझना चाहिये कि कलि प्रबल हो गया है॥ ६३॥ बन्धुगण, स्वजन, अमात्य आदि जब थोड़ेसे धन के लिये आपस में लड़ मरेंगे तब जानो कि कलि प्रबल हो गया है॥ ६४॥ सब और

प्रकटे मद्यमांसादौ निन्दादण्डविवर्जिते ।
गृढ़पानं चरिष्यन्ति तदैव प्रबलः कलिः ॥ ६५ ॥
गुरुशुश्रूषणे युक्ता रक्ताश्चेशपदाम्बुजे ।
अनुरक्ताः स्वदारेषु न हि तान् बाधते कलिः ॥ ६६ ॥
शृणुतर्षिगणा यूयं निर्लिप्तः काल ईरितः ।
कालो हि भगवद्रूपस्तत्स्वरूपमिहोच्यते ॥ ६७ ॥
प्रत्येककाले जायन्ते यादृशा जीवराशयः ।
तेषां समष्टिकर्म्मभ्यस्तादृक् कालः प्रतीयते ॥ ६८ ॥
तथाऽपीह महाभागाः ! कालशक्तिर्दुरत्यया ।
कलिकालप्रभावेण परिवर्तनमेति ह ॥ ६९ ॥
वर्णाश्रमाणां धर्म्मो वै तस्मात् सन्न्यासिनामपि ।
धर्मेषु वैपरीत्यं हि भविष्यति महर्षयः ॥ ७० ॥

इति श्री सन्न्यासगीतायां कालधर्म्मनिरूपणं
नाम पञ्चमोऽध्यायः ।

मांस जब गुप्त या प्रकट रूप से सेवन किया जायगा और उसके लिये कोई निन्दा या दण्ड नहीं रहेगा तब समझना चाहिये कि कलि प्रबल होगया है ॥ ६५ ॥ परन्तु जो गुरु सेवा में लगे रहेंगे, भगवान् के चरणों के भक्त रहेंगे और अपनी ही स्त्री में अनुरक्त रहेंगे, उन्हें कलि की बाधा नहीं होगी ॥६६॥ हे ऋषिगण! काल निर्लिप्त है और वह भगवान् का रूप है । उसका स्वरूप मैं कहता हूं सो सुनिये । हर एक काल में जैसे जीव उत्पन्न होते हैं, उनके समष्टिकर्मों के अनुसार काल प्रतीत होता है ॥ ६७-६८ ॥ तथापि हे महाभाग! काल की शक्ति बड़ी प्रबल है। कलिकाल के प्रभाव से हे महर्षिगण वर्णाश्रमधर्म्म में परिवर्तन और सन्न्यासियों के धर्म में वैपरीत्य हो जाता है ॥ ६९-७० ॥

इस प्रकार श्री सन्न्यास गीता का काल धर्म निरूपण नामक पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

शुक उवाच।

भगवन् ! वेदविहितं भेदं सन्न्यासिनामिह।
सामान्याचरणं तेषां धर्म्मं साधारणं तथा ॥ १ ॥
कृपया श्रावयित्वाऽस्मान्कृतकृत्यान्कुरुष्व ह ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच।

यज्ञप्रधानः पुंसो वै धर्म्मोऽत्र परिकीर्तितः।
तपसश्चाऽपि प्राधान्यं नारीधर्म्मे विशेषतः ॥ ३ ॥
प्रवृत्ते रोधको ज्ञेयो वर्णधर्म्मो महामुने।
आश्रमस्य च धर्म्मो हि निवृत्तेः पोषकः स्मृतः ॥ ४ ॥
ऐश्वर्यस्य तु प्राधान्यं वैश्यधर्म्मे विनिश्चितम्।
धर्म्मः सेवाप्रधानो वै शूद्रस्य समुदीरितः ॥ ५ ॥
क्षत्रियस्य च धर्म्मोऽयं क्षात्रतेजःप्रधानकः।
विप्रधर्म्मे तु भो विप्राः ! ब्रह्मतेजःप्रधानता ॥ ६ ॥
चतुर्ष्वप्याश्रमेष्वेवाऽधिकारो ब्राह्मणस्य ह।
सन्न्यासमन्तरेणाऽत्र क्षत्रियस्य त्रिषु स्मृतः ॥ ७ ॥

श्री शुकदेवजी बोलेः-भगवन् ! सन्न्यासियों का वेदविहित भेद, उनका सामान्य आचरण और साधारण धर्म कृपया सुना कर आप हमें कृतार्थ करें ॥ १-२ ॥

महर्षि याज्ञवल्क्य बोलेः-पुरुषधर्म यज्ञप्रधान और नारीधर्म विशेषतया तपप्रधान कहा गया है ॥ ३ ॥ हे महामुने ! प्रवृत्तिरोधक वर्णधर्म और निवृत्तिपोषक आश्रमधर्म है ॥ ४ ॥ वैश्यधर्म में ऐश्वर्य की प्रधानता निश्चित हुई है। सेवाधर्म शूद्र के लिये प्रधान माना गया है ॥ ५ ॥ क्षत्रियों का धर्म क्षात्र तेज प्रधान है और हे विप्रो ! ब्राह्मणों के धर्म में ब्रह्मतेज का ही प्राधान्य है ॥ ६ ॥ चारों आश्रमों का ब्राह्मण को अधिकार है। क्षत्रियों को सन्न्यास के अतिरिक्त तीन आश्रमों का अधिकार है ॥ ७ ॥ वैश्य को

द्वयोरेवतु वैश्यस्य गार्हस्थ्यब्रह्मचर्य्ययोः ।
एकस्मिन्नेव गार्हस्थ्ये शूद्रस्याऽधिकृतिर्मता ॥ ८ ॥
प्रवृत्तिं शास्त्रविहितां ब्रह्मचर्य्ये तु शिक्षते ।
समाचरति गार्हस्थ्ये तां प्रवृत्तिं पुमान् भुवि ॥ ९ ॥
वानप्रस्थे निवृत्तेस्तु शिक्षा पुंसु प्रजायते ।
निवृत्तिः पूर्णतां याति सन्न्यासाश्रममेत्य वै ॥ १० ॥
आश्रमाणां चतुर्णां वै प्रधानो धर्म्म उच्यते ।
संयमस्तु गृहस्थानां नियमो ब्रह्मचारिणाम् ॥ ११ ॥
वानप्रस्थाश्रमस्थानां तपस्त्यागस्तु न्यासिनाम् ।
सन्न्यासाश्रमभेदाश्च चत्वार इह ईरिताः ॥ १२ ॥
कुटीचकस्तु प्रथमो द्वितीयस्तु बहूदकः ।
हंसः परमहंसश्च द्वाविमावन्तिमौ स्मृतौ ॥ १३ ॥
सन्न्यासदीक्षामादाय कामिन्यादीन् विहाय च ।
कुटीचकः स सन्न्यासी नगरप्रान्तसीमनि ॥ १४ ॥
क्वचिन्मनोरमे स्थाने कुटीं निर्म्माय संवसेत् ।
योगोपनिषदध्यायैः कुर्य्यादाध्यात्मिकोन्नतिम् ॥ १५ ॥

लिये गार्हस्थ्य और ब्रह्मचर्य ये दो ही अधिकार हैं एवम् शूद्र को केवल गृहस्थाश्रम मात्र का अधिकार है ॥ ८ ॥ पृथ्वी पर पुरुष शास्त्रोक्त प्रवृत्ति को ब्रह्मचर्याश्रम में सीखते हैं और गृहस्थाश्रम में उसका आचारण करते हैं ॥ ९ ॥ वानप्रस्थाश्रम में निवृत्ति की शिक्षा आरम्भ होती और सन्न्यासाश्रम में निवृत्ति की पूर्णता होती है ॥ १० ॥ अब चारों आश्रमों के प्रधान धर्म कहता हूं। गृहस्थों का प्रधान धर्म संयम है, ब्रह्मचारियों का प्रधान धर्म नियम है, वानप्रस्थों का प्रधान धर्म तप है और सन्न्यासियों का प्रधान धर्म त्याग है। सन्न्यासाश्रम के चार भेद कहे गये हैं ॥ ११-१२ ॥ यथाः-(१) कुटीचक (२) बहूदक (३) हंस, और (४) परमहंस ॥ १३ ॥ सन्न्यास-दीक्षा ग्रहण कर स्त्री पुत्रों को छोड़ नगरप्रान्त की सीमापर कहीं मनोहर स्थान में कुटी बनाकर जो रहता है उसे कुटीचक सन्न्यासी कहते हैं। उसे योगाभ्यास और उपनिष-

बहूदकस्तु सन्न्यासी न वसेदधिकं क्वचित्।
दिनत्रयं प्रतिस्थानं स्थित्वाऽन्यत्र सुखं व्रजेत्॥ १६॥
तीर्थादिकं परिभ्रम्य यथावत् साधनादिभिः।
आत्मोपलब्धौ सततं यतेताऽयं महामनाः॥ १७॥
सन्न्यासी ज्ञानवान् हंसो विधाय भ्रमणं मुदा।
संसारे ज्ञानविस्तारं कुर्य्यादेव प्रयत्नतः॥ १८॥
पूज्यः परमहंसः स सन्न्यासी विगतज्वरः।
कुर्व्वन्नकुर्व्वन् वा किञ्चिदसौ नारायणः स्मृतः॥ १९॥
कौपीनं गैरिकं वस्त्रं दण्डञ्चाऽपि कमण्डलुं।
सततं यत्नतः सम्यक् गृह्णीरन् प्रथमास्त्रयः॥ २०॥
अस्मिन् परमहंसस्य नियमो नाऽस्ति कश्चन।
ध्रुवं विधिर्निषेधश्च तदिच्छाऽधीनतामितः॥ २१॥
पञ्चधा सगुणोपास्तावधिकारी कुटीचकः।
सुयोग्यः कीर्त्तितः सम्यग् ज्योतिर्ध्याने बहूदकः॥ २२॥

दादि के अध्ययन द्वारा अपनी आध्यात्मिक उन्नति करनी चाहिये ॥ १४-१५ ॥ बहूदक सन्न्यासी को कहीं अधिक नहीं ठहरना चाहिये। हर एक स्थान में तीन दिन रहकर अन्य स्थान में आनन्द के साथ उसे चले जाना चाहिये ॥१६॥ इस उदारचेता को तीर्थादि में परिभ्रमण कर यथावत् साधनादि से आत्मा की उपलब्धि के लिये निरन्तर चेष्टा करनी चाहिये ॥ १७ ॥ ज्ञानी हंस सन्न्यासी को प्रसन्नता के साथ भ्रमण कर बड़े प्रयत्न से संसार में ज्ञान का विस्तार करना चाहिये॥१८॥ जिसके सब प्रकार के ताप छूट गये हैं, ऐसा परमहंस सन्न्यासी कुछ करे या न करे वह साक्षात् नारायणस्वरूप होने के कारण पूज्य कहा गया है ॥ १९ ॥ प्रथम तीन अर्थात् कुटीचक, बहूदक और हंस, कौपीन, गेरुआ वस्त्र, दण्ड, कमण्डलु बड़े यत्न के साथ निरन्तर भली भांति ग्रहण करें ॥ २० ॥ इस विषय में परमहंस के लिये कोई नियम नहीं है क्योंकि विधि और निषेध उनकी इच्छा के अधीन हैं, ऐसा निश्चय है ॥ २१ ॥ सगुण पञ्चोपासना का अधिकारी कुटीचक है। बहूदक उत्तम ज्योतिर्ध्यान के लिये सुयोग्य कहा गया

हंसो विन्दूपासनायामधिकारी निगद्यते।
पुण्यः परमहंसोऽसौ ब्रह्मोपास्तौ स्वतः क्षमः ॥ २३ ॥
वस्तुतोऽधिकृतिप्राप्तौ सर्व्वे सन्न्यासिनः सुखं।
ब्रह्मोपास्तिं सदा कर्तुमर्हन्तीतरथा न हि ॥ २४ ॥
ऋतुद्वये हि सन्न्यासी क्षौरं कुर्य्यात्कुटीचकः।
क्षौरं वहूदकः सम्यक् त्यजेत्स्यात्तु जटाधरः ॥ २५ ॥
हंसः परमहंसश्च चेदिच्छन्तावुभौ तदा।
क्षौरं प्रत्ययनं कर्त्तुमर्हतः पूतमानसौ ॥ २६ ॥
दण्डत्रयं धरेदाद्यो द्वौ दण्डौ तु वहूदकः।
एकदण्डं तृतीयस्तु चतुर्थो नियमोर्ध्वगः ॥ २७ ॥
आद्यो वारत्रयं स्नानमाचरेत्तु वहूदकः।
द्विवारमेकवारन्तु तृतीयोऽनियमोऽपरः ॥ २८ ॥
ऊर्ध्वपुण्ड्रं धरेदाद्यो द्वितीयस्तु त्रिपुण्ड्रकम्।
तृतीयः श्रद्धया भस्म चतुर्थोऽनियमो स्वतः ॥ २९ ॥

है ॥ २२ ॥ हंस विन्दु की उपासना का अधिकारी है और पुण्यवान् परमहंस ब्रह्म की उपासना करने में स्वयं समर्थ है ॥ २३ ॥ यह भी निश्चित है कि वास्तविक अधिकार प्राप्त होने पर सभी सन्न्यासी ब्रह्म की उपासना कर सकते हैं ॥ २४ ॥ कुटीचक सन्न्यासी को दो ऋतु वीत जाने पर क्षौर कराना चाहिये। वहूदक सन्न्यासी को क्षौर नहीं कराना चाहिये, उत्तम जटाएं धारण करनी चाहियें॥ २५ ॥ हंस और परमहंस दोनों पवित्रात्मा यदि चाहें तो हरएक अयन में क्षौर करा सकते हैं ॥ २६ ॥ तीन दण्ड कुटीचक धारण करे, वहूदक दो दण्ड ग्रहण करे, हंस एक ही दण्ड ले और परमहंस तो नियम से अतीत होते हैं ॥ २७ ॥ कुटीचक प्रतिदिन तीनवार स्नान करे. वहूदक दोवार और हंस एकवार स्नान करे। परमहंस के लिये कोई नियम नहीं हैं ॥ २८ ॥ कुटीचक ऊर्ध्व पुण्ड्र धारण करे, वहूदक त्रिपुण्ड्र लगावें, हंस श्रद्धा के साथ भस्म धारण करे और परमहंस के लिये कोई नियम नहीं ॥२९॥ कुटीचक को एक

एकाहारः सदाऽऽद्यस्य वृत्तिर्माधुकरी शुभा।
द्वितीयस्य ततोऽन्यस्य वृत्तिराजगरी मता॥ ३०॥
सत्यं परमहंसस्य करपात्रं सुशोभते।
यतो बालायमानोऽसौ बालवच्चेष्टते सदा॥ ३१॥
बाह्यः पूजा शुभाऽऽद्यस्य द्वितीयस्य हि मानसी।
आत्मपूजा तृतीयस्य त्वात्मारामोऽपरः स्वयम्॥ ३२॥
मन्त्रयोगः सदाऽऽद्यस्य द्वितीयस्य हठः स्मृतः।
तृतीयस्य लयोऽन्त्यस्य राजयोगो व्यवस्थितः॥ ३३॥
अनुकूलेऽधिकारे तु सर्वे सन्न्यासिनः सदा।
सर्वं विधातुमर्हन्ति नास्ति कश्चन संशयः॥ ३४॥
आद्यो जपेद्वाचनिकमुपांश्वेव बहूदकः।
तृतीयो मानसं सम्यक् प्रणवं ब्रह्मवाचकम्॥ ३५॥
पूज्यः परमहंसोऽयं विबुधेश्वरतां गतः।
सर्वदाऽनुभवं ह्यन्तः प्रणवस्य करोत्यलम्॥ ३६॥

बार भोजन करना चाहिये, बहूदक को मधुकरी * वृत्ति रखनी चाहिये। हंस की अजगर कीसी वृत्ति † होनी चाहिये और परमहंस को तो करपात्र ही शोभा देता है क्योंकि वह बाल-भावापन्न होकर बालक की तरह चेष्टा करता है॥ ३०-३१॥ कुटीचक को बाह्य पूजा, बहूदक को मानस पूजा और हंसको आत्म पूजा शुभ है। परमहंस तो स्वयं आत्माराम होते हैं॥३२॥ कुटीचक को मन्त्रयोग, बहूदक को हठयोग, हंसको लययोग और परमहंस को राजयोग के साधन करने की विधि है॥३३॥ अधिकार प्राप्त होने पर सभी सन्न्यासी चारों योगों का साधन कर सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं है॥३४॥ कुटीचक संन्यासी ब्रह्मवाचक प्रणव का का वाचनिक जप करे, बहूदक उपांशु जपकरे, हंस मानसिक जपकरे और परमहंस तो देवताओं का भी ईश्वर होने के कारण वह

* कई स्थानों से थोड़ा थोड़ा मांग कर भिक्षा करने को माधुकरी वृत्ति कहते हैं।
† अपने स्थान में बैठकर अयाचित जो मिलजाय उसी के अनुसार भिक्षा करने को आजगरी वृत्ति कहते हैं।

कुर्य्यान्नाद्यो गुरोः कार्य्यं कुर्य्याच्चत्र वहूदकः ।
आचार्य्यकार्य्यं शास्त्रोपपत्तिकांशोपदेशनम् ॥ ३७ ॥
आचार्य्यस्य गुरोश्चाऽपि कार्य्यं कुर्य्यात्तृतीयकः ।
न विधिर्न निषेधश्च चतुर्थस्य कदाचन ॥ ३८ ॥
संत्यजेद्रूपोऽध्यासमाद्यः स्थूलस्य सर्व्वथा ।
द्वितीयः खलु सूक्ष्मस्य तृतीयः कारणस्य च ॥ ३९ ॥
सर्व्वथाऽयं पूजनीयो मार्गं विधिनिषेधयोः ।
अतीतः परमो हंसः प्राप्नोति ब्रह्मरूपताम् ॥ ४० ॥
रक्षेदाद्यः शिखासूत्रे द्वितीयः सूत्रमात्रकम् ।
शिखा तस्य जटायां हि सम्यक् परिणता भवेत् ॥ ४१ ॥
सूत्रशून्यो भवेद्धंसः स्वेच्छाऽधीनैव तज्जटा ।
न विधिर्न निषेधो वा चतुर्थस्य विधीयते ॥ ४२ ॥
अन्त्योऽग्रिमैस्त्रिभिः पूज्यस्तृतीय आद्ययोर्द्वयोः ।
द्वितीयोऽग्र्येण सम्पूज्यो भक्त्या कल्याणमिच्छता ॥ ४३ ॥

अन्तःकरण में निरन्तर प्रणव का अनुभव करता है । यही साधना उसके लिये पर्याप्त है ॥ ३५-३६ ॥ कुटीचक गुरु का कार्य न करे । वहूदक शास्त्रों के औपपत्तिक अंश का उपदेश कर आचार्य का कार्य करे । आचार्य का और गुरु का दोनों का कार्य हंस करे और परमहंस को किसी प्रकार का विधिनिषेध नहीं है ॥ ३७-३८ ॥ कुटीचक स्थूल शरीर का सर्वथा अध्यास छोड़ दे । वहूदक सूक्ष्म शरीर का और हंस कारण शरीर का अध्यास छोड़ दे । परमहंस विधि निषेध से अतीत होने के कारण सर्वथा पूजनीय है । वह ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त होजाता है ॥ ३९-४० ॥ कुटीचक शिखा सूत्र धारण करे । वहूदक केवल सूत्र मात्र धारण करे क्योंकि शिखा उसकी जटा में ही उत्तम रीति से परिणत हुई होती है । हंस को सूत्र भी त्याग देना चाहिये और जटा रखना न रखना उसकी इच्छा पर अवलंबित है, परमहंस के लिये कोई विधि निषेध नहीं है ॥४१-४२॥ परमहंस सन्न्यासी कल्याण चाहने वाले प्रथम तीन सन्न्यासियों के लिये भक्तिपूर्वक पूजनीय है । हंस सन्न्यासी शेष दो प्रकार के

सर्वे संन्यासिनः पूज्या वर्णैराश्रमिभिस्तथा ।
संन्यासिनमविज्ञातं वचसैव नमेत्सुधीः ॥ ४४ ॥
कालतो हीनवर्णोऽपि सन्न्यासिवेषभाक् यतः ॥
प्रणामे कायिके सम्यक् दोषोऽत्र विद्यते खलु ॥ ४५ ॥
नमस्कारे वाचनिके न दोषोऽस्ति कथंचन ।
व्रतं त्रयाणामाद्यानां प्रत्येकं तु त्रिवत्सरम् ॥ ४६ ॥
व्रते पूर्णेऽधिकारे च लब्धे गुरुदयाबलात् ।
आद्यो द्वितीयो भवितुं द्वितीयस्तु तृतीयकः ॥ ४७ ॥
एवं तृतीयश्चरमः शक्नोति योग्यतां गतः ।
आध्यात्मिकाऽधिकारस्य न कश्चित्पूर्णतां विना ॥ ४८ ॥
प्राप्नुयादुन्नतिं तत्र गुरुदेवः परीक्षकः ॥
प्राणहीनः स्थूलदेहमाद्यस्य दहनं व्रजेत् ॥ ४९ ॥
दहनं क्षेपणं वाऽपि द्वितीयस्याऽनले जले ।
नद्यां क्षेपं तृतीयस्य क्षित्यन्तर्वा निवेशनम् ॥ ५० ॥

सन्न्यासियों के लिये पूजनीय है और बहूदक कुटीचक के लिये पूजनीय है ॥ ४३ ॥ सब वर्ण और आश्रमों द्वारा सभी संन्यासी पूजनीय हैं । बुद्धिमान् मनुष्य अपरिचित संन्यासी को केवल वाचनिक प्रणाम करे क्योंकि कलिके प्रभाव से हीनवर्ण के लोग भी संन्यासी का वेश धारण करलेते हैं । उनको कायिक प्रणाम करने से दोष होता है ॥ ४४-४५ ॥ वाचनिक नमस्कार में दोष नहीं होता । कुटीचक, बहूदक और हंस इनमें से प्रत्येक का व्रत तीन तीन वर्षका होता है । व्रत पूर्ण होने पर और गुरु कृपासे अधिकार प्राप्त होने पर कुटीचक बहूदक हो सकेगा, बहूदक हंस बन सकेगा ॥ ४६-४७ ॥ और हंस योग्यता प्राप्त कर परम हंस हो सकेगा । आध्यात्मिक अधिकार की पूर्णता हुए विना कोई उन्नति को नहीं पहुँच सकता और इसके परीक्षक केवल गुरुदेव ही हो सकते हैं । कुटीचक का स्थूल देह प्राणहीन हो जाने पर उसे जला देना चाहिये ॥ ४८-४९ ॥ बहूदक का मृतदेह अग्नि में जलाया जा सकता है या जल में फेक भी दिया जा सकता है । हंस के मृत शरीर को

चतुर्थस्य विशेषो न नियमोऽस्त्यत्र कश्चन ॥
सन्न्यासिगुरुदेवस्य सन्निधाने कुटीचकः ॥ ५१ ॥
स्पृष्ट्वोपनिषद्ग्रन्थं गृह्णीयाद्भक्तितो व्रतम् ।
बहूदकस्तु सन्न्यासी गुरुदेवस्य सन्निधौ ॥ ५२ ॥
स्पृष्ट्वा तीर्थजलं सम्यक् गृह्णीत व्रतमुत्तमम् ।
नारायणस्वरूपं तु स्पृष्ट्वा होमानलं स्वयम् ॥ ५३ ॥
गृह्णीयाद्धंससन्न्यासी व्रतं परमभद्रदम् ।
परः परमहंसोऽस्त्यावतीतद्वैतभावनः ॥ ५४ ॥
आत्मतत्त्वं स्वयं स्मृत्वा गृह्णीयात्परमं व्रतम् ।
दृष्टाऽऽनुश्रविकैश्वर्य्यमूर्द्ध्वलोकादिकञ्च यत् ॥ ५५ ॥
कुटीचकस्तु मंत्रेण तत्सर्व्वं साधु सन्त्यजेत् ।
त्यजेत्तदुक्तमखिलं सङ्कल्पेन बहूदकः ॥ ५६ ॥
हंसो भवेत्सर्व्वथैव तत्तत्संस्कारवर्जितः ।
सन्न्यासी परमो हंसः सर्व्वेषां भक्तिभाजनम् ॥ ५७ ॥
ब्रह्मस्वरूपस्तत्तस्य क्व निषेधः क्व वा विधिः ।
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च द्वौमार्गावेव तिष्ठतः ॥ ५८ ॥

नदी में बहादेना या पृथ्वी में गाड़ देना चाहिये ॥ ५० ॥ परमहंस के लिये कोई विशेष नियम नहीं है । कुटीचक सन्न्यासी गुरुदेव के निकट उपनिषद्-ग्रन्थ को छूकर भक्ति के साथ व्रत ग्रहण करे। बहूदक गुरुदेव के निकट जाकर तीर्थजल को स्पर्श कर व्रत धारण करे। स्वयं नारायण स्वरूप होमानल को स्पर्श कर हंस सन्न्यासी परम कल्याणकारी व्रत ग्रहण करे । परमहंस द्वैतभाव से अतीत होता है ॥ ५१-५४ ॥ आत्मतत्त्व का स्मरण कर वह स्वयम् परम व्रत को ग्रहण करे । दृष्ट अर्थात् इह लौकिक ऐश्वर्य और आनुश्रविक अर्थात् स्वर्गलोक के ऐश्वर्य एवम् ऊर्ध्वलोकादि के ऐश्वर्य का कुटीचक मन्त्र द्वारा त्याग करे और वही सब बहूदक सङ्कल्प द्वारा त्याग दे ॥ ५५-५६ ॥ हंसको सर्वथा उसके संस्कारों से भी रहित होना चाहिये और परमहंस सन्न्यासी तो सब का भक्तिभाजन है । वह स्वयं ब्रह्म स्वरूप होने से उसके लिये न कोई विधि है और न कोई

निवृत्तिमेवाश्रयेरन् सर्व्वे सन्न्यासिनः सदा।
कलिप्रभावतो नूनं वर्णाश्रमविपर्य्ययात् ॥ ५९ ॥
इतरेऽप्याश्रयिष्यन्ते निवृत्तिमार्गमुत्तमम् ॥
अन्तश्चतुर्णामेतेषां प्रवेष्टुं यद्यपि क्षमाः ॥ ६० ॥
नैव स्युस्तथाऽप्येते निवृत्तिमार्गगामिनः।
अत एवाऽवधूतेति गोस्वामीति च साध्विति ॥ ६१ ॥
उदासीनेति वैरागीति महापुरुषेति च।
एतत्पर्य्यायकैरन्यैरपि शब्दैर्निरन्तरम् ॥ ६२ ॥
प्रकीर्त्यन्ते यतस्तेऽत्र साधुमार्गावलम्बिनः।
त्यागस्य तपसश्चाऽपि ज्ञानस्य तारतम्यतः ॥ ६३ ॥
सम्माननस्याऽपि तेषां तारतम्यं सुविद्यते।
विशेषतस्तारतम्याद्वर्णाधिकारयोरपि ॥ ६४ ॥
तारतम्यं भवेत्तेषां निवृत्तिमार्गवर्त्तिनाम्।
साधवः स्वोच्चवर्णीयान् कुर्वीरन् नैव दीक्षितान् ॥ ६५ ॥
प्रणामं कायिकं तेषां गृह्णीरंश्च कदापि नो।
वर्णानामाश्रमाणाञ्च परमोन्नतिसाधिनी ॥ ६६ ॥

निषेध ही है। प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दोही मार्ग हैं ॥ ५७-५८ ॥ इनमें से संन्यासियों को निवृत्तिमार्ग का ही आश्रय करना चाहिये। कलिके प्रभाव से वर्णाश्रम का विपर्यास होने के कारण इस उत्तम निवृत्तिमार्गका ब्राह्मणेतरवर्ण भी आश्रय करेंगे। यद्यपि वे इन चारों में अर्थात् कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंसों में प्रवेश करने में असमर्थ हैं, तथापि वे निवृत्ति मार्ग गामी हैं। अतएव वे अवधूत, गोस्वामी, साधु, उदासी, वैरागी, महापुरुष या इन्हीं के पर्यायवाचक शब्दों से निरन्तर अभिहित होंगे। क्योंकि वे साधुमार्गावलम्वी हैं। त्याग, तप और ज्ञान के तारतम्य से ॥ ५९-६३ ॥ उनके सम्मान में भी तारतम्य रहेगा। विशेषतः वर्ण और अधिकार के तारतम्यानुसार उन निवृत्ति मार्गावलम्बियों का तारतम्य रहेगा। साधु लोग अपने से उच्च वर्ण के लोगों को दीक्षित न करें ॥ ६४-६५ ॥ उनका कायिक प्रणाम कभी ग्रहण न करें। ऐसा करने से वर्णाश्रम की परम उन्नति

अन्यथा धर्म्ममर्य्यादाऽनादिसिद्धाऽपि नङ्क्ष्यति।
उदासीना वा भवन्तु ब्राह्मणेतरवर्णजाः॥ ६७॥

त्यागशीला वा भवन्तु रक्षेत नियमो हि तैः।
अवश्यं धर्म्ममर्य्यादा पालनीया प्रयत्नतः॥ ६८॥

कार्य्यं देवर्षिपितॄणां तैः सम्मानसुरक्षणम्॥
यत्नो विधेयः सर्वत्र सर्व्वेषां सर्व्वदा स्वतः॥ ६९॥

भगवन्महिमप्रेम्णोः कीर्त्तने च प्रचारणे।
कर्म्मण्युपास्तौ भक्तौ च रतानामधिकारिणाम्॥ ७०॥

जनयेयुर्बुद्धिभेदं न ते ज्ञानाऽभिमानिनः।
परन्तु तेषां सततमधिकारोऽधिकारिणाम्॥ ७१॥

शक्नोति वर्द्धितुं येन विधेया तत्र सम्मतिः।
महर्षयोहमधुना निवृत्त्याश्रयवर्त्तिनां॥ ७२॥

सन्न्यासिनां शुभकरं साधनं प्रब्रवीमि वः।
निष्कामकर्म्माभ्यसनं कार्य्यं स्वस्वाऽधिकारतः॥ ७३॥

साधिनी अनादिसिद्ध धर्ममर्यादा नष्ट हो जायगी। ब्राह्मणेतर वर्ण चाहे तो उदासी हों॥६६-६७॥ चाहे त्यागी हों, लोकहितकारी वर्णाश्रम धर्मसम्बन्धीय नियमों की रक्षा उन्हें करनी उचित है। उन्हें बड़े यत्न के साथ धर्म की मर्यादा अवश्य पालन करनी चाहिये॥६८॥ और देव, ऋषि एवम् पितरों के सम्मान की सुरक्षा का कार्य करना चाहिये। भवन्महिमा और भगवत्प्रेम के कीर्तन और प्रचार में सदा सर्वत्र स्वयं और दूसरों के द्वारा उन्हें यत्नवान् होना चाहिये। वे ज्ञानाभिमानी होकर कर्म, उपासना और भक्ति में रत अधिकारियों का बुद्धिभेद न करें। किन्तु उनके साथ ऐसी सहानुभूति रक्खें जिससे अधिकारियों का अपना अपना यथावत् अधिकार बढ़ सके। हे महर्षिगण! अब मैं निवृत्ति मार्ग का आश्रय किये हुए सन्न्यासियों के कल्याणकारी साधन को कहता हूं। सन्न्यासियों को अपने अपने अधिकारानुसार निष्काम कर्म का अभ्यास करना चाहिये॥६९-७३॥

उपासना यथाशक्ति तेषां परमश्रद्धया।
शक्यतेऽहरहः सम्यङ् ज्ञानं वर्द्धयितुं यथा॥ ७४॥
मोक्षशास्त्रादिपाठेन क्रियेतैश्च तथैव तैः।
तपोज्ञानविवृद्धानां देवतानाञ्च पूजनम्॥ ७५॥
सम्माननं देवमूर्त्तिपीठानां कुर्य्युरेव ते।
अनाश्रमी न तिष्ठेत्तु क्षणमेकमपि द्विजः॥ ७६॥
यतो ह्यनाश्रमी तिष्ठन् पतत्येव न संशयः।
अतो गार्हस्थ्यभावेऽपि वैराग्यं समुपागतः॥ ७७॥
तथा गृहस्थधर्म्मस्य पालने चाऽक्षमः पुमान्।
शास्त्रदृष्टेन विधिना ह्याश्रमान्तरमाविशेत्॥ ७८॥
विप्रो वनाश्रमे स्थित्वा तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं सन्न्यासेन नयेत् क्रमात्॥ ७९॥

और परम श्रद्धा के साथ यथाशक्ति उपासना भी करनी चाहिये। प्रतिदिन मोक्षशास्त्र आदि के पाठ से वे अपना ज्ञान भली भांति बढ़ावें और तदनुसार आचरण भी उन्हें करना चाहिये। तप एवं ज्ञान में जो वृद्ध हैं, उनका और देवताओं का पूजन तथा देवमूर्त्तियों के पीठों का सम्मान उन्हें करना चाहिये। द्विज को कभी एक क्षण के लिये भी अनाश्रमी नहीं रहना चाहिये * ॥ ७४-७६ ॥ क्योंकि अनाश्रमी रहने से वह पतित होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। अतः गृहस्थाश्रम में रहते हुए यदि वैराग्य प्राप्त हो या कोई गृहस्थधर्म-पालन में असमर्थ हो तो शास्त्रोक्त विधि से ही आश्रमान्तर ग्रहण करना चाहिये ॥ ७७-७८ ॥ ब्राह्मण अपने आयुष्य का तृतीय भाग वानप्रस्थाश्रम में बिताकर क्रमशः जीवन का चतुर्थ भाग सन्न्यासाश्रम में बितावें ॥ ७९ ॥

---

* आर्यजाति के स्वाभाविक नेता ब्राह्मण वर्ण में उत्पन्न व्यक्ति को कदापि अनाश्रमी होकर एक क्षण भी नहीं रहना चाहिये। या तो वह ब्रह्मचारी रहे, या गृहस्थ रहे, या वानप्रस्थ रहे या सन्न्यासी होजाय। अनाश्रमी होकर रहने से उसकी अवश्य अवनति होगी, यह महर्षियों का सिद्धान्त है।

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः ।
भिक्षावलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्द्धते ॥ ८० ॥
अग्नीनात्मनि संस्थाप्य विप्रः प्रव्रजितो भवेत् ।
योगाभ्यासरतः शान्तो ब्रह्मविद्यापरायणः ॥ ८१ ॥
यदा मनसि सम्पन्नं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु ।
तदा सन्न्यासमिच्छेत्तु पतितः स्याद्विपर्य्यये ॥ ८२ ॥
प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं आग्नेयीमथवा पुनः ।
दान्तः पक्वकषायोऽसौ ब्रह्माश्रममुपाश्रयेत् ॥ ८३ ॥
सदन्ने वा कदन्ने वा लोष्ठे वा काञ्चने तथा ।
समबुद्धिर्यस्य शश्वत् स सन्न्यासीति कीर्तितः ॥ ८४ ॥
शुद्धाचारद्विजान्नञ्च भुङ्क्ते लोभादिवर्जितः ।
किन्तु किञ्चिन्नयाचेत स सन्न्यासीति कीर्तितः ॥ ८५ ॥
अयाचितोपस्थितञ्च मिष्टामिष्टञ्च भुक्तवान् ।
भक्षणार्थी न याचेत स सन्न्यासीति कीर्तितः ॥ ८६ ॥

एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाकर, अग्निहोत्रादि सम्पन्न कर, जितेन्द्रिय और भिक्षा एवम् बलि से परिश्रान्त होकर अन्त में जो संन्यास ग्रहण करता है उसकी देह छूटने पर अवश्यही आध्यात्मिक उन्नति होती है ॥ ८० ॥ अग्नि को आत्मामें स्थापन कर ब्राह्मण को सन्न्यासी होना चाहिये। योगाभ्यासनिरत, शान्त और ब्रह्मविद्या में परायण होकर जब मन में सब वस्तुओं से विराग हो जाय तब सन्न्यास की इच्छा करनी चाहिये। इसका विपर्यय होने से वह पतित हो जाता है ॥ ८१-८२ ॥ प्राजापत्येष्टि अथवा आग्नेयी इष्टि कर दमशील होकर और वासनाओं का क्षय करके ब्रह्माश्रम अर्थात् सन्न्यासाश्रम का आश्रय करना चाहिये ॥ ८३ ॥ सुस्वादु अथवा नीरस अन्न में, पत्थर या सोने में जिसकी निरन्तर समबुद्धि रहे वही सन्न्यासी है ॥ ८४ ॥ जिसका आचार शुद्ध हो ऐसे द्विज का अन्न लोभादि छोड़कर जो सेवन करता है और कुछ भी याचना नहीं करता, वह सन्न्यासी है ॥ ८५ ॥ बिना मांगे मीठा कडुवा जो कुछ सामने आजाय उसको खाकर भोजन की जो कभी याचना नहीं

सर्व्वत्र समबुद्धिश्च हिंसामायाविवर्जितः ।
क्रोधाहङ्काररहितः स सन्न्यासीति कीर्त्तितः ॥ ८७ ॥
तपसा कर्षितोऽत्यर्थं यस्तु ध्यानपरो भवेत् ।
सन्न्यासीह स विज्ञेयो वानप्रस्थाश्रमे स्थितः ॥ ८८ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यान्नित्यतृप्तो महामुनिः ।
सम्यक् स दमसम्पन्नः स योगी भिक्षुरुच्यते ॥ ८९ ॥
भैक्ष्यं श्रुतञ्च मौनित्वं तपो ध्यानं विशेषतः ।
सम्यक् च ज्ञानवैराग्यं धर्म्मोऽयं भिक्षुके मतः ॥ ९० ॥

योगी च त्रिविधो ज्ञेयो भौतिको मोक्ष एव च ।
तृतीयोऽन्त्याश्रमी प्रोक्तो योगमूर्त्तिसमाश्रितः ॥ ९१ ॥
प्रथमा भावना पूर्व्वे मोक्षे त्वक्षरभावना ।
तृतीये चान्तिमा प्रोक्ता भावना पारमेश्वरी ॥ ९२ ॥

यतीनां यतचित्तानां न्यासिनामूर्ध्वरेतसाम् ।
आनन्दं ब्रह्म तत्स्थानं यस्मान्नावर्त्तते मुनिः ॥ ९३ ॥

करता, वही सन्न्यासी है ॥ ८६ ॥ जिसकी सर्वत्र समबुद्धि हो, जो हिंसा, माया, क्रोध, अहङ्कार से रहित हो, वही सन्न्यासी है ॥ ८७ ॥ जो पूर्ण तपस्वी और ध्यानपरायण है, वानप्रस्थाश्रम में रहने पर भी उसे सन्न्यासी ही जानना चाहिये ॥ ८८ ॥ जो आत्मा में रत, नित्य तृप्त और दमसम्पन्न है, वह महामुनि, योगी, भिक्षु कहा जाता है ॥ ८९ ॥ भिक्षावृत्ति, शास्त्राध्यायन में प्रवृत्ति, मनोनिग्रह, तप, ध्यान, उत्तमज्ञान और विशेषतः वैराग्य येही भिक्षु के धर्म हैं ॥ ९० ॥ योगी तीन प्रकार के होते हैं यथा (१) भौतिक योगी (२) मोक्ष योगी और (३) अन्त्याश्रमी योगी, जो योग मूर्ति स्वरूप हैं ॥ ९१ ॥ पहिले की प्रथमा भावना, दूसरे (मोक्ष योगी) की अक्षर भावना और तीसरे (अन्त्याश्रमी) की पारमेश्वरी भावना होती है ॥ ९२ ॥ ऐसे अन्त्याश्रमी यतचित्त ऊर्ध्वरेता सन्न्यासी यतियों के ब्रह्मानन्द का वही स्थान-परमपद-है, जहां से वे मुनि लौट

योगिनाममृतं स्थानं व्योमाख्यं परमाक्षरम् ।
आनन्दमैश्वरं यस्मान्मुक्तो नावर्त्तते नरः ॥ ९४ ॥
ज्ञानसन्न्यासिनः केचिद्वेदसन्न्यासिनोऽपरे ॥
कर्म्मसन्न्यासिनस्त्वन्ये त्रिविधाः परिकीर्तिताः ॥ ९५ ॥
यः सर्व्वसङ्गनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वश्चाऽपि निर्भयः ।
प्रोच्यते ज्ञानसन्न्यासी स्वात्मन्येव व्यवस्थितः ॥ ९६ ॥
वेदमेवाऽभ्यसेन्नित्यं निराशीर्निष्परिग्रहः ।
प्रोच्यते वेदसन्न्यासी मुमुक्षुर्विजितेन्द्रियः ॥ ९७ ॥
यस्त्वग्नीनात्मसात् कृत्वा ब्रह्मार्पणपरो द्विजः ।
ज्ञेयः स कर्म्मसन्न्यासी महायज्ञपरायणः ॥ ९८ ॥
त्रयाणामपि चैतेषां ज्ञानी त्वभ्यधिको मतः ।
न तस्य विद्यते कर्म्म न लिङ्गाद्या विपश्चितः ॥ ९९ ॥

नहीं आते ॥ ९३ ॥ योगियों के लिये अमृत, व्योमाख्य, परमाक्षर, आनन्दरूप और ईश्वरसम्बन्धीय वह स्थान है, जहां से मुक्त पुरुष पुनः लौट कर नहीं आता ॥ ९४ ॥ तीन प्रकार के सन्न्यासी होते हैं । यथा–ज्ञानसन्न्यासी, वेदसन्न्यासी और कर्मसन्न्यासी ॥९५॥ जो अपने आत्मा में ही रममाण, सर्वसङ्गरहित, निर्द्वन्द्व और निर्भय है, उसे ज्ञानसन्न्यासी कहते हैं ॥ ९६ ॥ जो जितेन्द्रिय मुमुक्षु किसी से कुछ नहीं लेता, आशा नहीं रखता और नित्य वेद पाठ ही किया करता है वह वेद सन्न्यासी कहाता है ॥ ९७ ॥ जो द्विज अग्नि को आत्मसात् कर ब्रह्मार्पण परायण है, वह महायज्ञ परायण कर्मसन्न्यासी जनाना चाहिये * ॥ ९८ ॥ इन तीनों में ज्ञानी सन्न्यासी ही सबसे श्रेष्ठ है । क्योंकि न उसे कोई कर्म है और न चिन्हादिकी ही अपेक्षा है ॥ ९९ ॥ वह मरण नहीं

* सन्न्यासी की अवस्था के ये तीन भेद विचारने योग्य हैं । केवल कर्मकाण्ड की सहायता से वहिरग्नि का आत्मा में समारोप करने से कर्मसन्न्यासी होता है । सर्वत्यागी व्यक्ति अर्थात् अन्तःकरण से त्याग होकर जिसको वैराग्य होगया है वह द्वितीय अवस्था है और आत्मज्ञानी सन्न्यासी सर्वोत्तम है ।

नाभिनन्देत मरणं नाऽभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥ १०० ॥
नाऽध्येतव्यं न वक्तव्यं न श्रोतव्यं कदाचन ।
एवं ज्ञानपरो योगी ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १०१ ॥

एकवासोऽथवा विद्वान् कौपीनाच्छादनोऽथवा ।
मुण्डः शिखी वाऽथ भवेत् त्रिदण्डी निष्परिग्रहः ॥ १०२ ॥
काषायवासाः सततं ध्यानयोगपरायणः ।
ग्रामान्ते वृक्षमूले वा वासं देवालयेऽपि वा ॥ १०३ ॥

समः शत्रौ तथा मित्रे तथा मानापमानयोः ।
भैक्ष्येण वर्त्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेत् क्वचित् ॥ १०४ ॥
" यस्तु मोहेन चाऽन्यस्मादेकान्नादी भवेद् यदि ।
न तस्य निष्कृतिः काचिद् धर्मशास्त्रेषु कथ्यते " ॥१०५॥

रागद्वेषविमुक्तात्मा समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
प्राणिहिंसानिवृत्तश्च मौनी स्यात्सर्वनिस्पृहः ॥ १०६ ॥

चाहता और जीना भी नहीं चाहता । वह आज्ञाधारी सेवक की तरह केवल काल की प्रतीक्षा करता रहता है ॥ १०० ॥ बन्धन करनेवाले शास्त्र पढ़ना, बोलना, सुनना उसके लिये कुछ नहीं है । ऐसा ज्ञान परायण योगी ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है ॥ १०१ ॥ वह विद्वान् एक वस्त्र परिधान करे वा कौपीन ही धारण करे, चाहे मुण्डन करादे या शिखा ही रखाले, त्रिदण्ड ग्रहण करे अथवा कुछ भी न ले । काषायवस्त्रधारी, निरन्तर ध्यानयोग में परायण, गांव के बाहर वृक्ष के नीचे अथवा किसी देवालय में जिसका वास हो ॥ १०२ – १०३ ॥ शत्रु मित्र और मान अपमान को जो समान समझता हो, जो भिक्षा कर जीवन बिताता हो और एक ही का अन्न न खाता हो (यदि मोह से किसी एक ही का अन्न खाने वाला वह हो जाय तो धर्मशास्त्र में उसके लिये कोई निष्कृति नहीं है) रागद्वेष से रहित, पत्थर और सोने को एकसाँ समझनेवाला, प्राणि हिंसा से

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाणीं मनःपूतं समाचरेत् ॥ १०७ ॥
दम्भाहङ्कारनिर्मुक्तो निन्दापैशून्यवर्जितः ।
आत्मज्ञानगुणोपेतो यतिर्मोक्षमवाप्नुयात् ॥ १०८ ॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य्यं तपः परम् ।
क्षमा दया च सन्तोषो व्रतान्यस्य विशेषतः ॥ १०९ ॥
चतुर्विधा भिक्षवस्ते कुटीचकबहूदकौ ।
हंसः परमहंसश्च योऽत्र पश्चात्स उत्तमः ॥ ११० ॥

इति श्रीसन्न्यासगीतायां सन्न्यासधर्म्मनिरूपणं नाम षष्ठोऽध्यायः।

शुक उवाच ।

परिव्राजकमूर्द्धन्य ! प्रभो सन्न्यासिनां गुरो ।
श्रुतोऽस्माभिश्चतुर्णां हि धर्म्मः साधारणोऽनघ ! ॥ १ ॥

निवृत्त, मन को दमन करनेवाला, इच्छारहित, देखकर चलने वाला, छानकर जल पीने वाला, सत्य बोलनेवाला, मन से पवित्राचरण करनेवाला, दम्भ, अहङ्कार, निन्दा, दुष्टतादि से रहित, आत्म ज्ञान के गुण से युक्त जो यति हो, वह मोक्षप्राप्त करता है॥१०४-१०८॥ ऐसे यति के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, तप, क्षमा, दया और सन्तोष ये व्रत हैं ॥ १०९ ॥ चार प्रकार के भिक्षु होते हैं। यथाः- कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस-इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माने गये हैं ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीसन्न्यासगीता का संन्यासधर्मनिरूपण नामक षष्ठाध्याय समाप्त हुआ।

श्री शुकदेवजी बोलेः-हे निष्पाप ! हे परिव्राजक श्रेष्ठ ! हे सन्न्यासियों के गुरु ! हे प्रभो ! हमने चारों प्रकार के सन्न्यासियों

सन्न्यासिनां महाभाग ! कृपया श्रावयस्व नः।
कुटीचकस्य यः शास्त्रे विशिष्टो धर्म्म ईरितः ॥ २ ॥
पद्धतिर्या च सन्न्यासग्रहणे सम्मता सताम् ॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच ।

मुमुक्षुः सत्युपरते गार्हस्थ्याच्चेतसि ध्रुवम् ।
वानप्रस्थं समाश्रित्य त्यागे पूर्णरुचिस्तथा ॥ ४ ॥
साधने योग्यतां लब्ध्वा सन्न्यासाश्रममाविशेत् ।
यद्वा विषयवैतृष्ण्यमात्मज्ञानार्ज्जने तथा ॥ ५ ॥
उत्कटेच्छा प्रजायेत तदैव प्रव्रजेत्सुधीः ।
यतो वै प्राणिनां लोके गतिर्भाविन्यनिश्चिता ॥ ६ ॥
कुटीचकानां लक्ष्यं तु वक्ष्यमाणं निशामय ।
विषयवासनात्याग इन्द्रियाणाञ्च संयमः ॥ ७ ॥
दृष्टानुश्रविकाणां हि विषयाणां विशेषतः ।
त्यागसङ्कल्प आख्यातः सकामस्य च कर्म्मणः ॥ ८ ॥

का साधारण धर्म सुनलिया ॥ १ ॥ अब हे महाभाग ! कुटीचक सन्न्यासियों का शास्त्र में जो विशिष्ट धर्म कहा है, उसे सुनाइये ॥२॥ और सन्न्यास ग्रहण की सज्जन सम्मत पद्धति का भी वर्णन कीजिये ॥३॥

महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा:-जब मुमुक्षु के चित्त में गृहस्थाश्रम से सच्ची उपरति हो जाय और जब वह वानप्रस्थाश्रम का आश्रय कर पूर्ण त्यागी बन जाय एवम् जब वह साधन में योग्यता प्राप्त करले, तब उसे सन्न्यासाश्रम में प्रवेश करना चाहिये। अथवा विषयों से विरक्ति और आत्मज्ञान प्राप्ति की उत्कट इच्छा जब हो, तभी बुद्धिमान् मनुष्य को सन्न्यास ग्रहण कर लेना चाहिये। क्योंकि संसार में प्राणियों की अनिश्चित गति हुआ करती है ॥ ४-६ ॥ अब कुटीचकों का लक्ष्य कहता हूं, सुनिये। विषयवासना का त्याग, इन्द्रियों का संयम, विशेषतया दृष्ट और आनुश्रविक विषयों का सङ्कल्प त्याग,

त्यागस्तथा गृहस्थानां वानप्रस्थगतस्य च ।
धर्म्मस्य त्यागः कथितो देहाध्यासनिवारणे ॥ ९ ॥
तथा प्रयत्नो बहुधा सर्व्वकर्म्मस्वपि ध्रुवम् ।
आत्मनैव समं योगो योगसाधनमेव च ॥ १० ॥
पराभक्तेस्तथा लाभस्तत्त्वज्ञानागमश्च ह ।
विषयेषु च वैराग्यं सन्न्यासे तीव्रकाङ्क्षिता ॥ ११ ॥
यदा जायेत विप्रस्य तदैव प्रव्रजेद् गृहात् ।
कस्यचिदुपयुक्तस्य गुरोः सन्न्यासिनोऽन्तिके ॥ १२ ॥
बद्धाञ्जलिर्नतशिरा दीक्षामभ्यर्थयेत् स्वयं ।
इत्थं कुटीचकव्रतं प्रार्थयित्वा द्विजोत्तमः ॥ १३ ॥
प्रसाद्य देवर्षिपितॄन् देशे काले गुणान्विते ।
आकाङ्क्षेत ततो धीरः सन्न्यासव्रतधारणम् ॥ १४ ॥
कामिनीकाञ्चनत्यागो यावज्जीवनधारणम् ।
निष्कामकर्मणोऽभ्यासो गुरौ भक्तिर्निरन्तरा ॥ १५ ॥
ब्रह्मणि च पराभक्तिस्तत्त्वज्ञानावलम्बनात् ।
अद्वैतभावनासिद्धिरेतत्सर्वं समासतः ॥ १६ ॥

सकाम कर्म त्याग ॥ ७-८ ॥ गृहस्थों के और वानप्रस्थों के धर्मों का त्याग, सब कर्म्मों के करने में देहाध्यास निवारण के लिये बहुधा निश्चित रूप से प्रयत्न, आत्मा के साथ योग, योगसाधन, पराभक्ति का लाभ, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति, विषयों में वैराग्य और सन्न्यास की तीव्र आकाङ्क्षा ये सब बातें जब हों, तभी ब्राह्मण को घर से निकल जाना चाहिये । फिर किसी उपयुक्त सन्न्यासी के निकट जाकर ॥ ९-१२ ॥ हाथ जोड़ सिर झुकाकर दीक्षा के लिये प्रार्थना करनी चाहिये । इस प्रकार कुटीचकव्रत के लिये प्रार्थना कर और अच्छे देशकाल में देव, ऋषि और पितरों को सन्तुष्ट कर उस धीर द्विजश्रेष्ठ को सन्न्यास व्रत धारण करने की इच्छा करनी चाहिये ॥ १३-१४ ॥ आजन्म कामिनी काञ्चन का त्याग, निष्काम कर्म्मों का अभ्यास, निरन्तर गुरुभक्ति, ब्रह्म की पराभक्ति, तत्त्वज्ञान

सन्न्यासदीक्षाग्रहणे प्रधानं लक्ष्यमीरितम् ।
आतुरस्य तु सन्न्यासे विशेषः कोऽपि नो विधिः ॥ १७ ॥
अल्पान्नाऽभ्यवहारेण रहस्थानासनेन च ।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ १८ ॥
प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत् कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥ १९ ॥
दह्यन्तेध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ २० ॥
प्राणस्योत्क्रमणासन्नकालस्त्वातुरसंज्ञिकः ।
नेतरस्त्वातुरः कालो मुक्तिमार्गप्रवर्तकः ॥ २१ ॥
आतुरेपिच सन्न्यासे तत्तन्मन्त्रपुरःसरम् ।
मन्त्रावृत्तिञ्च कृत्वैव सन्न्यसेद्विधिवद्बुधः ॥ २२ ॥
आतुरेऽपि क्रमे वाऽपि प्रेषभेदो न कुत्रचित् ।
न मन्त्रः कर्मरहितः कर्म मन्त्रमपेक्षते ॥ २३ ॥

के अवलम्बन से अद्वैत भावना की सिद्धि, यही सब सन्न्यास दीक्षा ग्रहण में प्रधान लक्ष्य कहे गये हैं। आतुर सन्न्यास के लिये कोई विशेष विधि नहीं है ॥ १५-१७ ॥ अल्प अन्न खाकर और एकान्त वास कर आसक्त हुई इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त करना चाहिये ॥१८॥ ब्राह्मण प्रणव और व्याहृति से युक्त तीन ही प्राणायाम यदि यथाविधि करे, तो वही परम तप जानना चाहिये ॥ १९ ॥ जिस प्रकार अग्नि में तपानेसे धातु के मल जल जाते हैं उसी प्रकार प्राणायाम करने से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं ॥ २० ॥ जब बिलकुल प्राण निकलते हों, वही काल आतुर संज्ञक है। दूसरा कोई आतुर काल मुक्तिमार्गप्रवर्तक नहीं है ॥ २१ ॥ आतुर सन्न्यास में भी उन उन मन्त्रों सहित मन्त्रावृत्ति कर विधिपूर्वक विद्वान् पुरुष सन्न्यास ग्रहण करे ॥ २२ ॥ आतुर सन्न्यास या क्रमसन्न्यास में प्रेषभेद कहीं नहीं है। कोई मन्त्र कर्मरहित नहीं है और हर एक कर्म मन्त्र

अकर्म मन्त्ररहितं नाऽतो मन्त्रं परित्यजेत् ।
मन्त्रं विना कर्म्म कुर्यात् भस्मन्याहुतिवद्भवेत् ॥ २४ ॥
विध्युक्तकर्मसंक्षेपात् सन्न्यासस्त्वातुरः स्मृतः ।
तस्मादातुरसन्न्यासे मन्त्रावृत्तिविधिर्मुने ॥ २५ ॥
आहिताऽग्निर्विरक्तश्चेद्देशान्तरगतो यदि ।
प्राजापत्येष्टिमप्स्वेव निवृत्त्यैवाऽथ सन्न्यसेत् ॥ २६ ॥
मनसा वाऽथ विध्युक्तमन्त्रावृत्त्याऽथवा जले ।
श्रुत्यनुष्ठानमार्गेण कर्मानुष्ठानमेव वा ॥ २७ ॥
आतुरस्य तु सन्न्यासे प्रेषमात्रं हि केवलम् ।
न श्राद्धादि न चाऽन्यत् स्याज्जलमध्यादिसर्पणम् ॥ २८ ॥
प्रेषं वक्तुमशक्तश्चेद्वाचाऽसौ मनसैव हि ।
प्रेषं कुर्यात्स्वयं धीरो मरणे समुपस्थिते ॥ २९ ॥
आतुराणां तु सन्न्यासे न विधिर्नैव च क्रिया ।
प्रेषमात्रं समुच्चार्य्य सन्न्यासं तत्र कारयेत् ॥ ३० ॥

की अपेक्षा रखता है ॥ २३ ॥ मन्त्ररहित कर्म्म अकर्म्म मात्र है, इसलिये मन्त्र का त्याग कभी नहीं करना चाहिये । मन्त्र के विना कर्म्म करना राख में आहुति देने के बराबर है ॥ २४ ॥ संक्षेप से सन्न्यास का विधियुक्त कर्म करने को आतुर सन्न्यास कहते हैं । इसलिये हे मुने ! आतुर सन्न्यास में भी मन्त्रावृत्ति की विधि है ॥ ॥ २५ ॥ अग्निहोत्री विरक्त होकर यदि देशान्तर में गया हुआ हो तो प्राजापत्येष्टि जल में ही निपटाकर उसे सन्न्यास ग्रहण कर लेना चाहिये ॥ २६ ॥ मन से यथाविधि मन्त्रावृत्ति करे अथवा जल में बैठ कर वेदोक्त मार्ग से यथाविधि कर्मानुष्ठान करे ॥ २७ ॥ आतुर सन्न्यास में केवल प्रेषमात्र है। न उसे श्राद्ध है और न जल में ही बैठना होता है ॥ २८ ॥ प्रेष कहने में अशक्त हो और प्राणोत्क्रमण का समय उपस्थित हो गया हो, तो धीर पुरुष स्वयं मानसिक वाणी से प्रेष कहे ॥ २९ ॥ आतुर सन्न्यास में न कोई विधि है और न कोई क्रिया है। केवल प्रेष का उच्चारण कर सन्न्यास कर देना

तनुं त्यजेद्धि यो विप्रः कृत्वा सन्न्यासमात्मवान् ।
मानसाद्वाचकाद्वाऽपि प्रेषादेवाऽत्र जायते ॥ ३१ ॥
कालान्तरेऽथवा सद्यो ब्रह्मलोकं स गच्छति ।
सन्न्यस्तमिति यो ब्रूयात्प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥ ३२ ॥
न तत्क्रतुसहस्रेण फलं प्राप्नोति मानवः ।
सन्न्यस्तमिति यो ब्रूयात्प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥ ३३ ॥
स सूर्यमण्डलं भित्त्वा ब्रह्मलोके महीयते ।
ब्रह्मणो मरणे तेन ब्रह्मणा सह धैर्य्यवान् ॥ ३४ ॥
महाभूतक्षये प्राप्ते परं ब्रह्माऽधिगच्छति ।
आपत्कालेतु सन्न्यासः कर्त्तव्य इति शिष्यते ॥ ३५ ॥
जरयाऽभिपलीतेन शत्रुभिर्व्यथितेन च ।
सन्न्यस्तत्रातुरो विप्रो यदि जीवति चेत्पुनः ॥ ३६ ॥
कर्त्तव्यः क्रमसन्न्यास आत्मश्रेयोऽभिकाङ्क्षिणा ।
ततो नैमित्तिकान्पितॄन्सन्तर्प्य विधिपूर्वकम् ॥ ३७ ॥

चाहिये ॥ ३० ॥ सन्न्यास ग्रहण कर जो ब्राह्मण शरीर छोड़ता है, और जिसका यहां पर मानसिक अथवा वाचनिक प्रेष हो जाता है, वह कालान्तर में अथवा तुरन्त ब्रह्मलोक को पहुँचता है। जब कण्ठ में प्राण आ जाते हैं, तब यदि कोई 'सन्न्यस्तं' इतना ही कह दे तो उस पुरुष को ऐसा फल मिलता है जो हजार यज्ञ करने से भी नहीं मिलता। मरने के समय यदि कोई 'सन्न्यस्तं' कहदे ॥ ३१-३३ ॥ तो वह सूर्यमण्डल को भेद कर ब्रह्मलोक में पहुँचता है। ब्रह्माजी के लय के समय में और महाभूतों का क्षय होते समय वह धीर पुरुष ब्रह्मा के साथ परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। आपत्काल में सन्न्यास लेलेना चाहिये, ऐसा भी कहा है ॥ ३४-३५ ॥ जरासे जर्जर होने के कारण अथवा शत्रु से पीड़ित होने के कारण आतुर सन्न्यास लेने पर भी यदि वह ब्राह्मण जी जाय, तो उस आत्म-कल्याण की चाहना करने वाले को फिर क्रमसन्न्यास ग्रहण कर लेना चाहिये। अनन्तर नैमित्तिक पितरों का विधिपूर्वक सन्तर्पण

नैमित्तिकाँस्तथा देवान्प्रसाद्य सन्न्यसेद्बुधः।
यतो वै दैवशक्तीनां पैतृकीणामिमे तथा ॥ ३८ ॥
प्रत्यक्षप्रतिनिधयः आम्नाता सकला अपि।
नैमित्तिकास्तु पितरो यावत्सप्तमपूरुषम् ॥ ३९ ॥
प्राधान्येनैव विज्ञेया देवा नैमित्तिकास्त्वमी।
कुलदेवा ग्राम्यदेवा वास्तुदेवा प्रधानतः ॥ ४० ॥
गुरोः पुरोधसश्चैव ज्ञानवृद्धनृणां तथा।
अध्यात्मसम्बन्धयुजामेतेषामपि तोषणम् ॥ ४१ ॥
कृत्वैव प्रव्रजेद्धीमान् चतुर्थेह्याश्रमे शुचिः।
यदि संस्कारशेषः स्यात्स्वयं स्वश्राद्धमाचरेत् ॥ ४२ ॥
कुटीचकस्तु सन्न्यासी योगसाधनसंयमौ।
अभ्यसेद्धि विशेषेण पञ्चसाकारब्रह्मसु ॥ ४३ ॥
कस्मिंश्चिद्यत्र मनसोरुचिरुग्राऽस्ति तस्य वै।
तस्मिन्रूपे सदा ध्यायन् ब्रह्मोपासनमाचरेत् ॥ ४४ ॥
आत्मीयकुलजातीनां सक्त्वा सम्बन्धमच्युत।
शरीरयात्रां निर्वोढुं धर्मात्मन्यात्मजे सति ॥ ४५ ॥

कर और नैमित्तिक देवताओं को प्रसन्न कर, उस विद्वान् को सन्न्यास ग्रहण कर लेना चाहिये। क्योंकि दैवी शक्ति और पैतृकी शक्ति के ये सब प्रत्यक्ष प्रतिनिधिस्वरूप माने गये हैं। नैमित्तिक पितर सात पुरुष तक प्रधानतया मानने चाहियें और नैमित्तिक देवों में कुलदेव, ग्राम्यदेव एवम् वास्तुदेव प्रधान हैं ॥ ३६-४० ॥ गुरु, पुरोहित, ज्ञानवृद्ध और अध्यात्मसम्बन्धयुक्त पुरुषों को सन्तुष्ट कर बुद्धिमान् पुरुष पवित्रता से चतुर्थाश्रम में प्रवेश करे। यदि उसके संस्कार शेष रह गये हों तो वह स्वयं अपना श्राद्ध करले ॥ ४१-४२। कुटीचक सन्न्यासी को विशेषतया योग साधन और संयम का अभ्यास करना चाहिये। पांच साकार ब्रह्म में से (अर्थात् सगुण पञ्च मूर्तियों में से) जिस में उसके मनकी उत्कट रुचि हो, उसी के रूप का सदा ध्यान कर उसे ब्रह्मोपासना करनी चाहिये ॥ ४३-४४ ॥ आत्मीय, कुल और जाति से सम्बन्ध त्याग

विस्तारे यत्नमादध्याद् व्रती भूत्वा निरन्तरम् ।
अस्यां दशायां सन्न्यासी उन्नतं लभते पदम् ॥ ७ ॥
जगद्गुरोः प्रतिनिधिर्महनीयं महर्षयः ।
दृष्टाऽनुश्रविकाभ्यां चेद्विषयाभ्यां यदा नृणाम् ॥ ८ ॥
परवैराग्यसम्प्राप्तिस्तदा हंसव्रतं चरेत् ।
पराभक्ते रहस्यं हि ज्ञात्वा साधकसत्तमः ॥ ९ ॥
तत्वज्ञानं चाऽनुभूय तदा हंसव्रतं चरेत् ।
उत्तरोत्तरमेतेषामाश्रमाणां विधारणे ॥ १० ॥
ज्ञानाऽधिकारप्राधान्यं न कालस्य प्रधानता ।
सन्न्यास्येतज्जगन्मान्यं धृत्वा हंसं महाव्रतम् ॥ ११ ॥
लभते ह्युत्तमां विप्राः ! पदवीं वै जगद्गुरोः ।
स निष्काम कर्मयोगव्रतं धृत्वा महीं चरन् ॥ १२ ॥
लोककल्याणकर्तारमुपदेशं ददत्तथा ।
दीक्षादानं महत्कुर्वन्नभयञ्च प्रचारयेत् ॥ १३ ॥
साधनानां परं तस्य राजयोगोऽस्ति साधनम् ।
तस्य व्रतमिदं ज्ञेयं निष्कामव्रतमेव हि ॥ १४ ॥

दृष्ट और आनुश्रविक विषयों से मनुष्य को जब पूर्ण वैराग्य प्राप्त हो जाता है, तब उसे हंस व्रत ग्रहण करना चाहिये । परा भक्ति के रहस्यको जान कर और तत्त्व ज्ञान का अनुभव करके साधकोत्तम हंस व्रत का ग्रहण करे । उत्तरोत्तर इन आश्रमों को ग्रहण करने में ज्ञान के अधिकार की प्रधानता है, कालकी नहीं । सन्न्यासी इस जगन्मान्य हंस के महाव्रत को धारण कर ॥ ५-११ ॥ हे विप्रो ! जगद्गुरु की उत्तम पदवी को प्राप्त करता है । वह निष्काम कर्म योगके व्रत को धारण कर पृथ्वीपर विचरण करता हुआ लोककल्याण करनेवाले उपदेश को देकर दीक्षादान स्वरूप महान् अभयदान का प्रचार करे ॥ १२-१३ ॥ उसके लिये साधनों में श्रेष्ठ साधन राजयोग है । उसका व्रत निष्काम व्रत ही जानना चाहिये ॥ १४ ॥ लोक

भिक्षेत्युक्त्वा सकृच्चूर्णीमश्नीयाद्वाग्यतः शुचिः ।
प्रक्षाल्यपाणिपादौ च समाचम्य यथाविधि ॥ ५२ ॥
आदित्ये दर्शयित्वाऽन्नं भुञ्जीत प्राङ्मुखोऽत्वरः ।
हुत्वा प्राणाहुतीः पञ्च ग्रासानष्टौ समाहितः ॥ ५३ ॥
आचम्य देवं ब्रह्माणं ध्यायीत परमेश्वरम् ।
अलाबुं दारुपात्रञ्च मृण्मयं वैणवं तथा ॥ ५४ ॥
चत्वारि यतिपात्राणि मनुराह प्रजापतिः ।
प्रदोषे परात्रे च मध्यरात्रे तथैव च ॥ ५५ ॥
सन्ध्यास्वह्नि विशेषेण चिन्तयेन्नित्यमीश्वरम् ॥ ५६ ॥
विष्णुश्चिदा यस्तु सता शिवः सन् ।
स्वतेजसाऽर्कः स्वधिया गणेशः ॥
देवी स्वशक्त्या कुशलं विधत्ते ।
कस्मैचिदस्मै प्रणतिः सदाऽऽस्ताम् ॥ ५७ ॥
त्रिपुरदलनदक्षश्चन्द्रखण्डावतंसः ।
कलितभसितलेपो हस्तविन्यस्तशूलः ॥

को जितना समय लगता है, उतने समय तक वह कुटीचक भिक्षु हरएक घर में नीचे सिर कर भिक्षा शब्द उच्चारण करके और पवित्रा पूर्वक मौनी होकर भिक्षा करे फिर हाथ पैर धोकर, यथाविधि आचमन कर और सूर्य को अन्न दिखा कर पूर्वाभिमुख बैठ शान्ति के साथ वह भिक्षा ग्रहण करे । पांच प्राणाहुतियों का हवन कर और आठ ग्रास लेकर पुनः आचमन करे एवम् ब्रह्माका तथा परमेश्वर का ध्यान करे । तुम्बीका, काठ का, मिट्टी का एवम् बाँस का ॥ ४९-५४ ॥ ये चार प्रकार के पात्र मनुप्रजापति ने यतियों के लिये कहे हैं । प्रदोष, परात्र, मध्यरात्र, सन्ध्या और विशेष कर दिन में प्रतिदिन ईश्वरचिन्तन करना चाहिये ॥५५-५६॥ विष्णु चित् शक्ति से, सदाशिव सत् शक्ति से, सूर्य अपने तेज से, श्रीगणेश अपनी बुद्धि से और देवी अपनी शक्ति से जगत् का कल्याण करती है, उन को सदा प्रणाम है ॥ ५७ ॥ जो त्रिपुरासुर को मारने में कुशल है, जिन्होंने अर्ध चन्द्र धारण किया है, भस्म-

कुटीचकस्तु गृह्णीयादन्नवस्त्रे ततोऽपि च ।
एतत्त्वाश्रमनिष्ठानां यतीनां नियतात्मनाम् ॥ ४६ ॥
भैक्षेण वर्तनं प्रोक्तं फलमूलैरथाऽपि वा ।
एककालं चरेद्भैक्ष्यं न प्रसज्येत विस्तरे ॥ ४७ ॥
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ।
सप्तागारं चरेद्भैक्षमलाभे द्वे पुनश्चरेत् ॥ ४८ ॥
प्रक्षाल्यपात्रे भुञ्जीयादद्भिः प्रक्षालयेत्तु तत् ।
अथवाऽन्यदुपादाय पात्रं भुञ्जीत नित्यशः ॥ ४९ ॥
भुक्त्वा च संत्यजेत्पात्रं यात्रामात्रमलोलुपः ।
विधूमे सन्नमुषले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ॥ ५० ॥
वृत्ते शरावसम्पाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ।
गोदोहमात्रं तिष्ठेत कालं भिक्षुरधोमुखः ॥ ५१ ॥

कर शरीर यात्रा का निर्वाह करने के लिये, यदि धर्मात्मा पुत्र हो, तो उस से भी कुटीचक अन्न वस्त्र ले सकता है । ऐसे आश्रमनिष्ठ नियतात्मा यतियों को भिक्षा वृत्ति से अथवा फलमूल खाकर रहने की आज्ञा है। उसे भिक्षा भी रात दिन में एक वार और थोड़ी* ग्रहण करनी चाहिये ॥ ४५-४७ ॥ क्योंकि भिक्षा में आसक्ति होने से यति विषयों की ओर प्रवृत्त होता है । सात घर भिक्षार्थ फिरना चाहिये और इतने पर यदि भिक्षा न मिले तो दो घर और भी जाना चाहिये ॥ ४८ ॥ धोये हुए पात्र में वह भोजन करे और पश्चात् उस पात्र को पुनः जल से धो डाले । अथवा नित्य नवीन पात्र लाकर उसमें भोजन करे । केवल शरीर यात्रार्थ भोजन कर उस पात्र को निर्लोभ होकर फेंक दे। जिस गृह में धुआँ न निकलता हो, मूसल न बजता हो, अङ्गार न देख पड़ते हों, जहां के लोगों का भोजन होगयासा हो और पत्तल बाहर फेंक दिये हों वहां प्रतिदिन यति को भिक्षार्थ जाना चाहिये । गोदोहन

* थोड़ी कहने से तात्पर्य यह है कि जो अष्टप्रहर के लिये पर्याप्त हो और अति भोजन भी न हो।

अधिसलिलधितल्पीकृत्य शेषं शयानो ।
द्रुहिणमभिनुवन्तं नाभिपद्मे दधानः ॥
चरणयुगलमङ्के क्लृप्तवानिन्दिरायाः ।
सजलजलदकान्तिः पातु नारायणो वः ॥ ६२ ॥
स्वस्वाकाशादिभूतप्रकृतिगुणयुजां साधकानां विमुक्त्यै ।
ब्रह्मैवैकं स्वमायाशबलितमभवत्पञ्चदेवात्मकं तत् ॥
नामाकारक्रियाभिर्वियदिव न भिदा वस्तुतोऽस्तीति तत्त्वम् ।
एकं पञ्चाऽपि पञ्चैकमपि बुधजनाः शान्तिसौख्यं भजन्तु ॥ ६३ ॥
एषु पञ्चसु रूपेषु यस्य कस्याऽपि निश्चितम् ।
गुरुणैवोपदिष्टेषु ध्यानं कुर्य्याद्यतात्मवान् ॥ ६४ ॥
सच्चिदेकं ब्रह्म इति रूपेण मुनिपुङ्गव ! ।
व्रतानि यानि भिक्षूणां तथैवोपव्रतानि च ॥ ६५ ॥
एकैकातिक्रमे तेषां प्रायश्चित्तं विधीयते ।
उपेत्य च स्त्रियं कामात्प्रायश्चित्तं समाहितः ॥ ६६ ॥

॥ ६१ ॥ जो समुद्र में शेषशैया पर शयन किये हैं, जिन्होंने विनीत ब्रह्मा को नाभिकमल में धारण किया है और जिनके चरणों की सेवा लक्ष्मीजी कर रही हैं, वे घननील नारायण आपको पावन करें ॥ ६२ ॥ आकाशादि पञ्चमहाभूतों की प्रकृति के गुणों से युक्त अपने अपने साधकों की मुक्ति के लिये एकही ब्रह्म अपनी माया से युक्त होकर पञ्च देवात्मक हो गया है । नाम आकार और क्रियाओं से यद्यपि पांचों भिन्न प्रतीत होते हैं तथापि वस्तुतः आकाश की तरह वे एक ही हैं । अतः पांचों को एक और एक को ही पांच जानकर बुधजन शान्ति सौख्य का लाभ करें * ॥ ६३ ॥ हे मुनि श्रेष्ठ ! इन पांचों रूपों में जिस किसी का उपदेश गुरु ने किया हो, उसका ध्यान सच्चिदेक ब्रह्मरूप से एकाग्र होकर करना चाहिये।सन्न्यासियों के जो व्रत और उपव्रत हैं उनमें से एक का भी यदि अतिक्रम हो जाय तो प्रायश्चित्त होता है । कामेच्छा से यदि

---

* ये मन्त्र योगोक्त पञ्चोपासना के स्थूल ध्यान हैं ।

प्राणायामसमायुक्तं कुर्यात्सान्तपनं शुचिः ।
ततश्चरेत नियमान् कृत्स्नान् संयतमानसः ॥ ६७ ॥
पुनराश्रममागत्य चरेद्भिक्षुरतन्द्रितः ।
न नर्मयुक्तमनृतं हिनस्तीति मनीषिणः ॥ ६८ ॥
तथापि न च कर्त्तव्यः प्रसङ्गो ह्येष दारुणः ।
एकरात्रोपवासश्च प्राणायामशतं तथा ॥ ६९ ॥
उक्त्वाऽनृतं प्रकर्त्तव्यं यतिना धर्मलिप्सुना ।
परमापद्गतेनाऽपि न कार्य्यं स्तेयमन्यतः ॥ ७० ॥
स्तेयादभ्यधिकः कश्चित नास्त्यधर्म इति स्मृतिः ।
हिंसा चैषा परा तृष्णा या चाऽऽत्मज्ञाननाशिका ॥ ७१ ॥
यदेतद्द्रविणं नाम प्राणास्ते तु बहिश्चराः ।
स तस्य हरते प्राणान्यो यस्य हरते धनम् ॥ ७२ ॥
एवं कृत्वा स दुष्टात्मा भिन्नवृत्तौ व्रतच्युतः ।
भूयो निर्वेदमापन्नश्चरेच्चान्द्रायणं व्रतम् ॥ ७३ ॥

वह स्त्री के निकट जाय, तो प्रायश्चित्त कर प्राणायाम युक्त सान्तपन करे तब वह शुद्ध होगा। फिर वह सन्न्यासी संयमी हो पुनः अपने आश्रम में आकर निरलसभाव से समस्त नियमों का पालन करे। हे मनीषियो! यद्यपि हंसीमें झूठ बोलना पापजनक नहीं होता है, तथापि सन्न्यासी को ऐसा दारुण प्रसङ्ग कभी नहीं आने देना चाहिये। एक रात्र उपवास और सौ प्राणायाम झूठ बोलने के प्रायश्चित्तार्थ धर्मात्मा यति को करने चाहिये। परम आपत्ति में पड़ने पर भी कभी चोरी नहीं करनी चाहिये॥ ६४–७०॥ ऐसा कहा है कि चोरी से बढ़कर कोई अधर्म नहीं है। हिंसा, अत्यन्त तृष्णा और याञ्चा आत्मज्ञान को नाश कर देती है ॥ ७१ ॥ द्रव्य वालेका द्रव्य उसके बहिस्थित प्राणरूप है। यदि कोई किसी का धन अपहरण करे तो वह धन नहीं, उसके प्राण ही हरण करता है ॥ ७२ ॥ चोरी करने से वह दुष्टात्मा भिन्न वृत्ति और व्रत से च्युत होता है; उसे लज्जित होकर चान्द्रायण व्रत करना चाहिये॥७३॥ यह व्रत शास्त्रोक्त

विधिना शास्त्रदृष्टेन सम्वत्सरमिति श्रुतिः ।
भूयो निर्वेदमापन्नश्चरेद्भिक्षुरतन्द्रितः ॥ ७४ ॥
अकस्मादपि हिंसां तु यदि भिक्षुः समाचरेत् ।
कुर्यात्कृच्छ्रातिकृच्छ्रन्तु चान्द्रायणमथापि वा ॥ ७५ ॥
स्कन्देदिन्द्रियदौर्बल्यात् स्त्रियं दृष्ट्वा यतिर्यदि ।
तेन धारयितव्या वै प्राणायामास्तु षोड़श ॥ ७६ ॥
दिवा स्वप्ने त्रिरात्रं स्यात्प्राणायामशतं तथा ।
एकान्ने मधुमांसे च नवश्राद्धे तथैव च ॥ ७७ ॥
प्रत्यक्षलवणे चोक्तं प्राजापत्यं विशोधनम् ।
ध्याननिष्ठस्य सततं नश्यते सर्वपातकम् ॥ ७८ ॥
तस्मान्महेश्वरं ध्यात्वा तस्य ध्यानरतो भवेत् ।
यद्ब्रह्म परमं ज्योतिः प्रतिष्ठाक्षयमक्षयम् ॥ ७९ ॥
योऽन्तरात्मा परं ब्रह्म स विज्ञेयो महेश्वरः ।
एष देवो महादेवः केवलं परमेश्वरः ॥ ८० ॥
तदेवाऽक्षयमद्वैतं तदादित्यान्तरं परम् ।
यस्मान्महीयते देवः स्वधाम्नि ज्ञानसंज्ञिते ॥ ८१ ॥

विधि से एक वर्ष पर्यन्त करे और संकोच के साथ निरलस होकर भ्रमण करे ॥ ७४ ॥ सन्न्यासी यदि अकस्मात् हिंसा करे, तो उसे कृच्छ्रातिकृच्छ्र अथवा चान्द्रायण व्रत करना चाहिये ॥ ७५ ॥ स्त्री को देखकर इन्द्रिय की दुर्बलता के कारण यति का वीर्यपात हो, तो उसे सोलह प्राणायाम करने चाहिये ॥ ६ ॥ दिन में यदि सोवे तो तीनरात्र सौ प्राणायाम करे । एकही का अन्न ग्रहण करे, मद्य मांस भक्षण करे अथवा नवश्राद्ध में जाय ॥ ७७ ॥ या प्रत्यक्ष लवण खाय तो उसकी शुद्धि के लिये प्राजापत्य व्रत करे । ध्याननिष्ठ के सब पातक नष्ट होजाते हैं । इसलिये महादेव का ध्यान कर उन्हीं के ध्यान में उसे रत होजाना चाहिये । क्योंकि वही परम ज्योतिर्मय ब्रह्मप्रतिष्ठाका स्थान और कभी क्षय होनेवाला नहीं है ॥ ७९ ॥ जो अन्तरात्मा है, वही परब्रह्म महेश्वर है । वही देवाधिदेव केवल परमेश्वर है ॥ ८० ॥ वही अक्षय और अद्वैत है, वही परम

आत्मयोगाह्वये तत्त्वे महादेवस्ततः स्मृतः।
नाऽन्यं देवं महादेवाद् व्यतिरिक्तं प्रपश्यति ॥ ८२ ॥
तमेवात्मानमन्वेति यः स याति परं पदम्।
मन्यन्ते ये स्वमात्मानं विभिन्नं परमेश्वरात् ॥ ८३ ॥
न ते पश्यन्ति तं देवं वृथा तेषां परिश्रमाः।
एकमेवपरं ब्रह्म विज्ञेयं तत्त्वमव्ययम् ॥ ८४ ॥
स देवस्तु महादेवो नैतद्विज्ञाय बध्यते।
तस्माद्यत्नेन नियतं यतिः संयतमानसः ॥ ८५ ॥
ज्ञानयोगरतः शान्तो महादेवपरायणः।
एष वः कथितो विप्रा यतीनामाश्रमः शुभः ॥ ८६ ॥
पितामहेन प्रभुणा मुनीनां पूर्वमीरितः ॥ ८७ ॥

इति श्रीसन्न्यासगीतायां कुटीचकधर्मनिरूपणं
नाम सप्तमोऽध्यायः।

ज्योति आदित्य में निहित है। क्योंकि ज्ञान संज्ञक अपने धाम में वही देव पूजे जाते हैं ॥ ८१ ॥ आत्मयोग नामक तत्त्व में महादेव ही कहे गये हैं। महादेव के अतिरिक्त दूसरा कोई देव नहीं देखा जाता ॥ ८२ ॥ जो उनको अपने आत्मा में खोजता है, वही परम पद को प्राप्त करता है। अपने आत्मा को जो परमेश्वर से भिन्न मानते हैं। वे उस देव को नहीं देख सकते। उनका परिश्रम व्यर्थ है। परब्रह्म एक ही है इस अव्यय तत्त्व को जान लेना चाहिये ॥ ८३-८४ ॥ और वह देव महादेव ही है यह जान लेने पर कोई बद्ध नहीं होता। इसलिये बड़े यत्न के साथ संयमी सन्न्यासी नियमित रूप से ज्ञान योग में रत और शान्त चित्त से महादेव परायण होजावे। यह मैंने हे विप्रो! यतियों के शुभ आश्रम का वर्णन किया है, जो पहिले मुनियों के स्वामी ब्रह्मा ने कहा था ॥ ८५-८७ ॥

इस प्रकार सन्न्यासगीता का कुटीचकधर्मनिरूपण नामक
सप्तम अध्याय समाप्त हुआ।

शुक उवाच ।

ज्ञानिनामग्रणीः ! ब्रह्मन् ! श्रुतोऽस्माभिः सविस्तरः ।
कुटीचकस्य धर्मोऽयं विशिष्टस्त्वदनुग्रहात् ॥ १ ॥
बहूदकस्य यो धर्मो विशिष्टः समुदाहृतः ।
श्रावयाऽस्मानिदानीं त्वं भक्तानुग्रहकारकः ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच ।

कुटीचकस्तु सन्न्यासी पूर्वलक्षणलक्षितः ।
त्रिभिरेव हि वर्षैस्तु स बहूदकतां श्रयेत् ॥ ३ ॥
तत्त्वज्ञानेऽग्रसरतां विना किन्तु न तामियात् ।
बहूदकस्य धर्मेषु विशिष्टानि मुनीश्वराः ॥ ४ ॥
सर्वप्रधानानि तथा लक्ष्यानीमानि यानि वै ।
विश्वात्मना समं स्वस्य चैक्ये यत्नो विशेषतः ॥ ५ ॥
जगद्ब्रह्म स्वरूपं वै ज्ञात्वा निष्कामकर्मकृत् ।
केवलं स भवेन्नित्यं व्रतेऽस्मिन्निरतः शुचिः ॥ ६ ॥

श्री शुकदेव जी बोलेः-हे ज्ञानियों में अग्रणी ब्रह्मन् ! आप के अनुग्रह से हमने कुटीचक का उक्त विशेष धर्म्म सविस्तर सुना ॥ १ ॥ अब आप बहूदक का जो विशेष धर्म्म कहा गया है वह हमलोगों को सुनाइये क्योंकि आप भक्तों पर अनुग्रह करनेवाले हैं ॥ २ ॥

महर्षि याज्ञवल्क्य बोलेः-पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त कुटीचक सन्न्यासी तीन वर्षों के बाद बहूदक धर्म का आश्रय करे ॥ ३ ॥ परन्तु वह यदि तत्त्वज्ञान में अग्रसर न हुआ हो तो तीन वर्ष बीत जाने पर भी उसे बहूदक नहीं होना चाहिये । हे मुनीश्वरो ! बहूदक धर्म के सर्वप्रधान और विशिष्ट लक्ष्य संक्षेप से निम्न लिखित हैं ! बहूदक को विश्वात्मा के साथ अपना ऐक्य करने का विशेष रूप से यत्न करना चाहिये ॥ ४-५ ॥ जगत् को ब्रह्म स्वरूप जान कर पवित्र भाव से केवल निष्काम कर्म के व्रत में उसे निरन्तर निरत रहना चाहिये ॥ ६ ॥

पूर्णतायास्तथा लाभः त्यागे तपसि यत्नतः ।
अनिकेतः स्थिरमतिस्तथा च दृढसंयमी ॥ ७ ॥
न केषुचिदभिष्वङ्गो कश्चनापि हि कुत्रचित् ।
तीर्थयात्राटनं चैव समासेन निबोधत ॥ ८ ॥
कामिनीकाञ्चनाभ्यां हि वैराग्यं मनसा यदि ।
पूर्णं नैवोपलब्धं चेन्न बहूदकतां श्रयेत् ॥ ९ ॥
संस्कारो ममतायाश्चेत्स्वजातिकुलबन्धुषु ।
न पूर्णो मनसा नष्टो न बहूदकतां श्रयेत् ॥ १० ॥
आत्मन्येव स्थितौ पूर्णा यदीच्छा नोपजायते ।
कदापि विप्रो धर्मज्ञो न बहूदकतां व्रजेत् ॥ ११ ॥
कुटीचकस्य यत्त्वाहुर्मनसा पूजनं सदा ।
देवर्षिनित्यपितॄणां यच्चाहुर्वै ह्यमन्त्रकम् ॥ १२ ॥
जगत्कल्याणबुद्ध्यैव महायज्ञविधानकम् ।
सर्व्वमेतच्च संप्रोक्तं ब्रह्माण्डस्यात्मना सह ॥ १३ ॥
ज्ञेयं तन्मुनिभिर्निरमैक्यसम्बन्धवर्द्धकम् ।
तयोर्बहूदकस्याऽस्ति न निषेधो न वा विधिः ॥ १४ ॥

यत्नपूर्वक त्याग और तप में पूर्णता लाभ करना चाहिये । गृहहीन, स्थितप्रज्ञ और दृढ़संयमी हों। कहीं भी किसी में भी कोई भी आसक्ति न रह जाय । और तीर्थयात्राटन किया करे ॥ ८ ॥ कामिनी काञ्चन से यदि मन में पूर्ण वैराग्य उत्पन्न न हुआ हो तो बहूदक धर्म का आश्रय नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥ अपनी जाति, कुल और बन्धुवर्ग के सम्बन्ध की ममता का संस्कार यदि हृदय से नष्ट न हुआ हो तो बहूदक नहीं होना चाहिये ॥ १० ॥ आत्मा में ही अवस्थिति करने की यदि पूर्ण इच्छा न हो तो धर्मज्ञ ब्राह्मण कदापि बहूदक धर्म में प्रवेश न करे ॥११॥ कुटीचक के लिये मानसिक पूजन और देव, ऋषि और नित्य पितृगण का जो अमन्त्रक पूजन कहा गया है, वह जगत्कल्याण की बुद्धि से महायज्ञ विधायक है। यह सब ब्रह्माण्ड के साथ आत्मा का ऐक्य सम्बन्ध बढ़ाने के लिये मुनियों ने कहा है ऐसा जान लेना चाहिये । इन दोनों में से बहूदक के

सङ्कल्पमोहरहितो यस्मात्स परिकथ्यते ।
किन्त्वाश्रमागतानां वै धार्म्मिकाणान्तु सत्कृतिः ॥ १५ ॥
शिष्टाचारेण कर्तव्या सर्व्वैः सन्न्यासिभिः सदा ।
मर्य्यादां पालयन्न्यासी वर्णाश्रमविधेर्ध्रुवम् ॥ १६ ॥

जगत्कल्याणबुद्ध्या वै शिष्टाचारपरो भवेत् ।
वाङ्मात्रेण नमस्कर्ता निम्नवर्णजुषां सताम् ॥ १७ ॥

साधूनामाश्रमाप्तानां इति शास्त्रविनिर्णयः ।
सैश्वर्य्यायाः स्थूलमूर्तेर्ब्रह्मणः परमेशितुः ॥ १८ ॥

ध्यानेन यदि तृप्तः स्यात्सन्न्यासी तु वहूदकः ।
ज्योतिर्ध्यानेऽथवा विन्दुध्याने कुर्याद्रतिं सदा ॥ १९ ॥
निर्गुणाया धारणाया ध्यानमेतत्सहायकम् ।
कृत्वा हृत्पद्मनिलये विश्वाख्यं विश्वसम्भवम् ॥ २० ॥

आत्मानं सर्वभूतानां परत्वात्तमसः स्थितम् ।
सर्वस्याधारमव्यक्तमानन्दं ज्योतिरव्ययम् ॥ २१ ॥

लिये किसी का विधिनिषेध नहीं है ॥ १२-१४ ॥ क्योंकि वह सङ्कल्प और मोह रहित है । किन्तु अपने आश्रम अर्थात् आसन पर आये हुए धार्मिकों का सत्कार शिष्टाचारके साथ सभी संन्यासियों को करना चाहिये। वर्णाश्रम धर्म्म की मर्य्यादा पालन करने के लिये संन्यासी को जगत्कल्याण की बुद्धि से शिष्टाचारपरायण होना चाहिये । आश्रम पर आये हुए निम्न वर्ण के सज्जन साधुगण को केवल मौखिक नमस्कार करना चाहिये ऐसा शास्त्र का निर्णय है । ऐश्वर्य युक्त परब्रह्म की स्थूल मूर्ति के ध्यान से यदि वहूदक सन्न्यासी तृप्त हो गया हो तो उसे ज्योतिर्ध्यान अथवा विन्दुध्यान का अभ्यास करना चाहिये ॥ १५-१९ ॥ ये ध्यान ही निर्गुण धारणा के परम सहायक हैं । हृदयकमल में विश्वसंज्ञक, विश्वसंभव, सर्व भूतों के आत्मास्वरूप, अन्धकार से परे स्थित, सबके आधारस्वरूप, अव्यक्त, आनन्दमय, ज्योतिर्मय, अव्यय, प्रधानपुरुषातीत, आकाश-

प्रधानपुरुषातीतमाकाशं दहनं परम् ।
तदन्तः सर्वभावानामीश्वरं ब्रह्मरूपिणम् ॥ २२ ॥
ध्यायेदनादिमद्वैतमानन्दादिगुणालयम् ।
महान्तं परमं ब्रह्म पुरुषं सत्यमव्ययम् ॥ २३ ॥
सिततराऽरुणाकारं महेशं विश्वरूपिणम् ।
ओंकारान्तेऽथवात्मानं संस्थाप्य परमात्मनि ॥ २४ ॥
आकाशे देवमीशानं ध्यायीताकाशमव्ययम् ।
कारणं सर्वभूतानां आनन्दैकसमाश्रयम् ॥ २५ ॥
पुराणं पुरुषं शम्भुं ध्यायन्मुच्येत बन्धनात् ।
यद्वा गुहायां प्रकृतौ जगत्सम्मोहनालये ॥ २६ ॥
विचिन्त्य परमं व्योम सर्वभूतैककारणम् ।
जीवनं सर्वभूतानां यत्र लोकः प्रलीयते ॥ २७ ॥
आनन्दं ब्रह्मणः सूक्ष्मं यत्पश्यन्ति मुमुक्षवः ।
तन्मध्ये निहितं ब्रह्म केवलं ज्ञानलक्षणम् ॥ २८ ॥

रूप और श्रेष्ठ अग्नि के रूप में ब्रह्म स्वरूप, अनादि, अद्वैत, आनन्दादि गुणों के आलय, महान् परम-ब्रह्म-पुरुष, सत्य, अव्यय और सब भावों के ईश्वर का ध्यान करना चाहिये † ॥ २०–२३ ॥ श्याम और अरुण स्वरूप विश्वरूप महेश को ॐकार में अथवा आत्मा को परमात्मा में स्थापन कर आकाश में आकाश रूप, अव्यय, ईश्वर, देव का ध्यान करना चाहिये । जो सब भूतों का कारण और आनन्द का एक मात्र आश्रयस्थान है । उस पुराणपुरुष शम्भु का ध्यान करने से बन्धन छूट जाते हैं । * अथवा गुहा, प्रकृति, और जगत्सम्मोहनालय के सम्बन्ध से परमव्योम, सर्वभूतों का कारण, सर्व भूतों का जीवन–जहाँ सभी लोग विलीन होते हैं–आनन्दमय ब्रह्म का सूक्ष्मरूप–जिसे मुमुक्षुगण देखते हैं–उसकी चिन्तना कर

---

† यह हठयोग के अनुसार ज्योतिर्ध्यान का प्रकरण है ।

* यह लय योग के अनुसार बिन्दुध्यान का प्रकरण है ।

अनन्तं सत्यमीशानं विचिन्त्यासीत संयतः।
गुह्याद्गुह्यतमं ज्ञानं यतीनामेतदीश्वरम् ॥ २९ ॥
योऽनुतिष्ठेत सततं सोऽश्नुते योगमीश्वरम्।
तस्मात् ध्यानरतो नित्यमात्मविद्यापरायणः ॥ ३० ॥
ज्ञानं समभ्यसेद्ब्राह्मं मुच्यते भवबन्धनात्।
यद्वा पृथक्त्वमात्मानं सर्वस्मादेव केवलम् ॥ ३१ ॥
आनन्दमक्षरं ज्ञानं ध्यायीत च पुनः परम्।
यस्माद्भवन्ति भूतानि यद्गत्वा नेह जायते ॥ ३२ ॥
स तस्मादीश्वरो देवः परस्ताद्योऽधितिष्ठति।
यदन्तरे तद्गमनं शाश्वतं शिवमव्ययम् ॥ ३३ ॥
यमाहुस्तत्परो नाऽस्ति स देवः स्यान्महेश्वरः।
शृणुध्वं ऋषयः सर्वे वेदवेदाङ्गपारगाः ॥ ३४ ॥
कालो दुरत्ययः प्रोक्तस्तस्मादुपगते कलौ।
तत्प्रभावात्प्रजाः सर्वा वर्णसङ्करतां तथा ॥ ३५ ॥

उसमें निहित केवल ज्ञानलक्षण, अनन्त, सत्य, ईश्वरीय ब्रह्म का विचार करते हुए संयत होकर रहना चाहिये। यतियों के लिये श्रेष्ठ, गुह्य से भी गुह्य इस ज्ञान का जो अनुष्ठान करता है, वह ईश्वरीय योग को प्राप्त करता है। इसलिये नित्य ध्यानरत और आत्मविद्यापरायण होकर ब्रह्मज्ञान का अभ्यास करने से सब बन्धन छूट जाते हैं। अथवा सब से पृथक्, केवल, आनन्द, अक्षर, अद्वितीय, ज्ञान स्वरूप आत्मा का ध्यान करना चाहिये। जिससे प्राणिमात्र उत्पन्न होते हैं और जहाँ पहुँच कर वे पुनः उत्पन्न नहीं होते अर्थात् मुक्त हो जाते हैं, वही देव ईश्वर है। उनसे भी परे जो स्थित हैं, जिस में उसका गमन शाश्वत, कल्याणमय, अव्यय होता है और जिस से परे कुछ नहीं है, वही देव महेश्वर कहे गये हैं* वेद वेदाङ्गों में पारङ्गत समस्त ऋषियों! सुनिये ॥ २४–३४ ॥ काल बड़ा प्रबल कहा गया है। जब कलिकाल आजायगा, तब उसके प्रभाव से पृथ्वी पर

* ये दो ध्यान राजयोग के अनुसार ईश्वर और ब्रह्म इन दोनों भावों से सम्बन्ध युक्त दो पृथक् ध्यान हैं। ईश्वर ध्यान तटस्थवेद्य और ब्रह्मध्यान स्वरूपवेद्य होने से राजयोग के अनुसार ये अलग अलग ध्यान माने गये हैं।

कर्म्मसङ्करतां चाऽपि प्रायो यास्यन्ति भूतले।
ब्राह्मणव्यतिरिक्ता ये ततो वर्णाः कलौ तदा॥ ३६॥
प्रव्रज्यां धारयिष्यन्ति निवृत्तेरिच्छुकास्तथा।
परिहारो नास्ति यस्य कालिकी गतिरीदृशी॥ ३७॥
यदि कालप्रभावेण ब्राह्मणेतरवर्णकाः।
निवृत्तिमभिकाङ्क्षेरन् तदा पालनतत्पराः॥ ३८॥
कुटीचकस्य धर्म्मस्य भवेयुस्ते निरन्तरम्।
तथा बहूदकस्याऽपि धर्मस्येति विनिर्णयः॥ ३९॥
धर्मो हंसस्य परमहंसस्याऽपि न युज्यते।
अन्यथा पतनं तेषां भावीति शास्त्रसम्मतम्॥ ४०॥
तथाऽवद्ध्युस्ते नित्यं लोकरक्षाकरी यथा।
वर्णधर्मस्य मर्यादा न लुप्येत कथञ्चन॥ ४१॥
मनसा तेऽधिकारं हि महान्तमपि कञ्चन।
कीदृशं चाऽपि लभ्येरन् शरीरेण तु नित्यशः॥ ४२॥

समस्त प्रजा प्रायः वर्णसङ्कर और कर्मसङ्कर हो जायगी। ब्राह्मण के अतिरिक्त सभी वर्ण निवृत्तिमार्ग के इच्छुक होकर सन्न्यास ग्रहण करने लगेंगे। इस बात का परिहार नहीं हो सकता क्योंकि काल की गति ही ऐसी है॥ ३५-३७॥ कलिकाल के प्रभाव से ब्राह्मणेतर वर्ण जब निवृत्ति की इच्छा करेंगे और निवृत्ति धर्मका पालन करने में तत्पर हो जायंगे, तब उन्हें केवल कुटीचक और बहूदक धर्म का ही पालन करना चाहिये। हंस और परमहंस के धर्म का पालन उनके लिये योग्य नहीं है। वे यदि ऐसा करें अर्थात् हंस या परमहंस बनें तो शास्त्रों के मत से उनका निश्चय पतन होगा॥ ३८-४०॥ उन्हें लोकरक्षाकरी वर्ण धर्म की मर्यादा का सदा ध्यान रखना चाहिये। उसका लोप नहीं होने देना चाहिये॥ ४१॥ वे अपना मानसिक कैसा ही महान् अधिकार क्यों न प्राप्त करलें,

वर्णधर्म्मानुसारेण वर्त्तेरन् विनयान्विताः ।
स्वोच्चवर्णस्य मर्यादाविचारं च पुनः पुनः ॥ ४३ ॥
हृदि संस्थापयेयुस्ते स्वीयामुन्नतिमिच्छवः ।
निम्नवर्णभवास्ते वै स्वोच्चवर्णेन पूजनम् ॥ ४४ ॥
न कारयेयुः कथमप्युच्चवर्णाय ते तथा ।
न चापि दीक्षां दद्युर्वै श्रुतिस्मृतिवचस्त्विदम् ॥ ४५ ॥
वर्णं पृष्टाः केनचित्ते गोपयेयुः कथञ्चन ।
न हि स्ववर्णं यस्माद्वै मूलमाहुर्महर्षयः ॥ ४६ ॥
वर्णाश्रमस्य धर्मं हि आर्यत्वस्य दृढं ध्रुवम् ।
एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान् ॥ ४७ ॥
सिद्धिमेकस्य संपश्यन् न जहाति न हीयते ।
अतिवादाँस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ॥ ४८ ॥
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्व्वीत केनचित् ।
क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ॥ ४९ ॥

शरीर से तो उन्हें विनय के साथ वर्ण धर्मानुसार ही चलना चाहिये। वे यदि अपनी उन्नति चाहते हों, तो अपने से ऊंचे वर्ण की मर्यादा का विचार उन्हें हृदय में रखना चाहिये। निम्न वर्ण में उत्पन्न होकर अपने से ऊंचे वर्ण के लोगों से वे कभी अपना पूजन न करावें और न अपने से ऊंचे वर्ण को दीक्षा ही दें, ऐसा श्रुति और स्मृति का वचन है ॥ ४२-४५ ॥ यदि कोई वर्ण पूछे तो उसे अपनी जाति छिपानी नहीं चाहिये। क्योंकि आर्यत्व का दृढ़ और निश्चित मूल वर्णाश्रम धर्म है। किसी की सहायता न लेकर अकेला ही सिद्धि के लिये सदा प्रयत्न करे, इस प्रकार से अकेले ही सिद्धि प्राप्त करने से उसकी सिद्धि न घटती है और न वह उसे छोड़ती है। अतिवाद नहीं करना चाहिँये। किसी का अपमान नहीं करना चाहिये॥४७-४८॥ इस देह का आश्रय कर किसी से वैर नहीं करना चाहिये। कोई क्रोध करे तो उसपर स्वयं क्रोध नहीं करना चाहियें। कोई आक्रोश

सप्तद्वारावकीर्णाञ्च न वाचमनृतां वदेत् ।
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ॥ ५० ॥
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ।
न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ॥ ५१ ॥
नाऽनुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ।
न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः ॥ ५२ ॥
आकीर्णं भिक्षुकैर्वाऽन्यैरागारमुपसंव्रजेत् ।
अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ॥ ५३ ॥
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ।
अभिपूजितलाभाँस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः ॥ ५४ ॥
अभिपूजितलाभश्च यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते ।
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेन च ॥ ५५ ॥

करे तो शान्ति के साथ कुशल की बात करनी चाहिये ॥ ४९ ॥ जो वाणी सात द्वारों से निर्गत होती है, ऐसी वाणी का असत्य रूप से प्रयोग नहीं करना चाहिये । सुखार्थी पुरुष अध्यात्म विषयों में प्रेम करता हुआ निरपेक्ष, निरामिष होकर आत्मा की ही सहायता से विचरण करे । धूमकेतु उदय जैसे उत्पातों के निमित्त से, ज्योतिष विद्या से ॥५०–५१॥ और अनुशासन वाद से कभी कहीं से भिक्षा की इच्छा न करे । * तपस्वी, ब्राह्मण, पक्षी, कुत्ते, भिखारी या अन्य लोगों से आकीर्ण गृह में भिक्षार्थ गमन न करना चाहिये । कोई भिक्षा न दे तो विवाद न करे और अच्छी भिक्षा मिलने पर भी हर्ष न माने ॥ ५२–५३ ॥ इन्द्रिय विषयों के सङ्ग से मुक्त होकर केवल जीवनयात्रा का चरितार्थ करना चाहिये । प्रतिष्ठा के साथ जो लाभ हो उसे निन्दित समझे क्योंकि प्रतिष्ठा से प्राप्त अर्थात् पुजाये हुए लाभ से मुक्त यति भी बद्ध हो जाता है । इन्द्रियों के निरोध से,

* इस वचन का तात्पर्य यह है कि सन्न्यासी को कदापि अपनी कोई विद्या, योग्यता या सिद्धि दिखाकर भिक्षा ग्रहण करनी नहीं चाहिये । यह सन्न्यासी के लिये अधर्म्म है ।

अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।
अन्वेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः ॥ ५६ ॥
निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ।
विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगञ्च तथाऽप्रियैः ॥ ५७ ॥
जरया चाऽभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ।
देहादुत्क्रमणञ्चास्मात्पुनर्गर्भे च सम्भवम् ॥ ५८ ॥
योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चाऽस्यान्तरात्मनः ।
अधर्म्मप्रभवञ्चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् ॥ ५९ ॥
धर्म्मार्थप्रभवञ्चैव सुखसंयोगमक्षयम् ।
सूक्ष्मताञ्चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः ॥ ६० ॥
देहेषु च समुत्पत्तिं उत्तमेष्वधमेषु च ।
दूषितोऽपि चरेद्धर्म्मं यत्र तत्राऽऽश्रमे रतः ॥ ६१ ॥
समः सर्व्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्म्मकारणम् ।
फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ॥ ६२ ॥
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ।
संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा ॥ ६३ ॥

रागद्वेष के क्षय से, प्राणिमात्र की अहिंसा से यति अमृतत्त्व को प्राप्त करता है। मनुष्यों की कर्मदोषों से बनी हुई गति देखनी चाहिये। नरक में पतन, यमयातना, प्रियवियोग, अप्रियसंयोग, जरा का आक्रमण व्याधि की पीड़ा, देह से उत्क्रमण, पुनःगर्भ में प्रवेश,॥५४-५८॥ करोड़ों योनियों में अन्तरात्मा का आवागमन ये सब प्राणियों के अधर्म से उत्पन्न हुए दुःख योग हैं ॥ ५९ ॥ धर्मार्थ प्रभव तो अक्षय सुख संयोग ही हुआ करता है। इन बातों को परमात्मा के संयोग से सूक्ष्मता देखनी चाहिये ॥ ६० ॥ उत्तम या अधम कैसे ही शरीर में उत्पत्ति क्यों न हो, दूषित होने पर भी जिस आश्रम का जो धर्म है, वह पालन करना चाहिये ॥६१॥ सब प्राणियों में समभाव रखना चाहिये। क्योंकि धर्म का कारण वेश नहीं है। कतक वृक्ष अर्थात् निर्मली वृक्ष के फल का केवल नाम लेने से ही पानी स्वच्छ नहीं होता। रात में या दिन में

शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ।
अह्ना रात्र्या च यान् जन्तून् हिनस्त्यज्ञानतो यतिः ॥ ६४ ॥
तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान् षडाचरेत् ।
प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम् ॥ ६५ ॥
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनाऽनीश्वरान् गुणान् ।
अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ॥ ६६ ॥
चर्मावनद्धं दुर्गन्धिपूर्णं मूत्रपुरीषयोः ।
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ॥ ६७ ॥
रजस्वलमनित्यञ्च भूतावासमिमं त्यजेत् ।
प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् ॥ ६८ ॥
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माऽभ्येति सनातनम् ।
यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निस्पृहः ॥ ६९ ॥
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ।
अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा संगान् शनैः शनैः ॥ ७० ॥

प्राणान्त हो तो भी प्राणिमात्र की रक्षा के लिये देखकर पृथ्वी पर चलना चाहिये.दिन या रात्रि में जो यति विना जाने यदि जन्तुहिंसा करे तो इसकी शुद्धि के लिये उसे स्नान कर छःप्राणायाम करने चाहिये प्राणायाम दोषों को जला देता है,धारणा किल्बिष का नाश करती है ६२-६५ प्रत्यहार से संसर्ग दोष दूर होते हैं और ध्यान से अनीश्वर गुणों का नाश होता है। कठिन अस्थि स्नायुओं से युक्त, रक्त से लिप्त ॥ ६६ ॥ चर्म से वद्ध,मलमूत्र की दुर्गन्धि से पूर्ण,जरा और शोक से आक्रान्त रोग का निकेतन स्वरूप, दोषयुक्त और पञ्चभूतों के वासस्वरूप इस नश्वर शरीर की आसक्ति को छोड़ना चाहिये। वह यति अपना सुकृत प्रियजनों को और दुष्कृत अप्रियों को देकर ध्यान योग से सनातन ब्रह्म को प्राप्त करता है। जब भाव की सहायता से सब भावों से निस्पृह हो जाता है॥६७-६९॥ तभी इहलोक और परलोक में वह शाश्वत सुख प्राप्त करता है। इस प्रकार सब सङ्गों को धीरे धीरे छोड़कर सब द्वन्द्वों से मुक्त होता हुआ वह ब्रह्म में ही अवस्थिति करता है। यह सब ध्यान

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ।
ध्यानिकं सर्व्वमेवैतत्तदेतदभिशब्दितम् ॥ ७१ ॥
न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते ।
अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च ॥ ७२ ॥
आध्यात्मिकञ्च सततं वेदान्ताभिहितं च यत् ।
इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ॥ ७३ ॥
इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ।
अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ॥ ७४ ॥
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ।
एकरात्रं वसेद्ग्रामे नगरे पंचरात्रकम् ॥ ७५ ॥
वर्षाभ्योऽन्यत्र वर्षासु मासाँश्च चतुरो वसेत् ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा चरति यो मुनिः ॥ ७६ ॥
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥ ७७ ॥

इति श्रीसन्यासगीतायां बहूदकधर्म्मनिरूपणं नाम अष्टमोऽध्यायः ।

सम्बन्धी विषय है, जो मैंने कहा ॥ ७०-७१ ॥ अध्यात्मज्ञान बिना कोई क्रियाफल नहीं पाता । अधियज्ञ ब्रह्म का जप करना चाहिये, आधिदैविक ब्रह्म का जप करना चाहिये । और वेदान्त में कथित आध्यात्मिक ब्रह्म का जप करना चाहिये *। येही तीनों अज्ञानी ज्ञानी, स्वर्ग चाहने वाले, अनन्त पद की इच्छा करनेवाले, सभी के लिये शरण्य है। इस क्रम से जो द्विज सन्न्यासी होता है, वह सब पापों से मुक्त होकर परब्रह्म को प्राप्त करता है। ग्राम में यति को एकरात्र और नगर में पञ्चरात्र रहना चाहिये । वर्षाकाल में कहीं चार मास रहना चाहिये। प्राणिमात्र को अभय प्रदान करता हुआ जो मुनि पर्यटन करता है, उसको किसी प्राणी से कभी भय उत्पन्न नहीं होता॥७२-७७॥

इस प्रकार श्रीसन्न्यासगीता का बहूदकधर्म्मनिरूपण नामक अष्टम अध्याय समाप्त हुआ ।

---

* देह में स्थित कूटस्थ चैतन्य अधियज्ञ, सगुण ईश्वर अधिदैव और निर्गुण ब्रह्म आध्यात्मिक कहाते हैं । तीनों एक है, एक ही तीन हैं । इस विचार से जप, ध्यान सन्न्यासी के लिये हितकर है ।

शुक उवाच।

जगद्गुरो! श्रुतोऽस्माभिर्भवतः कृपयाऽनघ।
बहूदकदशायास्तु श्रोतव्यो धर्म उत्तमः॥ १॥
अधुना वै तृतीयाया विशेषं लक्षणं वद।
अवस्थायास्तु हंसस्य न्यासिनोऽस्मान्कृतार्थयन्॥ २॥

याज्ञवल्क्य उवाच।

यदा तु जायते विप्राः! तत्त्वज्ञानस्य योग्यता।
बहूदको भवेद्धीरस्तदाऽऽत्मानं समुन्नयन्॥ ३॥
यदा च योग्यताप्राप्तिर्मनोनाशस्य जायते।
तदैव हंसावस्थायां विचरेद्योगिराड् मुदा॥ ४॥
यद्येवं योग्यता न स्यात्तदा पूर्वोक्तयोर्वसेत्।
हंसाधिकारे तत्त्वज्ञः निष्कामव्रततत्परः॥ ५॥
ब्रह्म मत्वा जगद्रूपं कर्म्मयोगी मनो जयन्।
जगत्यां सत्यधर्म्मस्य तत्त्वज्ञानस्य चैव हि॥ ६॥

श्रीशुकदेवजी बोलेः-हे निष्पाप! हे जगद्गुरो! आपकी कृपा से हमलोगों ने बहूदकदशा का जो उत्तम धर्म सुनना था सो सुन लिया। अब तृतीय अवस्था के हंससन्न्यासी का विशेष लक्षण कह कर आप हमलोगों को कृतार्थ करें॥ १-२॥

महर्षि याज्ञवल्क्यने कहाः-हे विप्रो! जब तत्त्वज्ञान की योग्यता हो जाय, तब धीर पुरुष को आत्मोन्नति करते हुए बहूदक होना चाहिये और जब मनोनाश करने की योग्यता हो जाय, तब उस योगिराज को आनन्द के साथ हंस दशा में विचरण करना चाहिये॥ ३-४॥ यदि ऐसी योग्यता न हो तो वह पूर्वोक्त कुटीचक-बहूदक की दशा में ही रहे। हंस के अधिकार में तत्त्वज्ञानी पुरुष निष्काम व्रत में परायण होकर ब्रह्मको जगत् रूप में माने और वह कर्मयोगी मन का जय करते हुए व्रती होकर संसार में सत्यधर्म एवम् तत्त्व-ज्ञान के विस्तार का निरंतर यत्न करता रहे। हे महर्षिगण! इस दशा में सन्न्यासी जगद्गुरु के प्रतिनिधि का महान् उन्नत पद प्राप्त करता है।

भवतु तव कपर्दी क्रीडदुन्मत्तगङ्गो।
दधदधितनु देवीं त्र्यम्बको मङ्गलाय ॥ ५८ ॥
जयति सकलविघ्नध्वान्तविध्वंससूर्यो।
मदपरिमललुब्धैः सेव्यमानो मिलिन्दैः ॥
निजचरणपरेभ्यो दिव्यभोगस्य दाता।
विलसितरददण्डो हस्तितुण्डो गणेशः ॥ ५९ ॥
मघवमुखसुराणामुत्तमाङ्गेषु यस्याः।
चरणनखरभासो माल्यभावं भजन्ति ॥
महिषकदनचण्डैः सायुधैर्बाहुदण्डैः।
जयति विकटमूर्तिः प्रेयसी त्र्यम्बकस्य ॥ ६० ॥
वहति वियति यस्य स्यन्दनं सप्तसप्तिः।
सततमनुभचक्रं चोद्यमानोऽरुणेन ॥
सजयति तिमिराणां तक्षणे लब्धदीक्षो।
विरतविधुविकाशो बान्धवः पङ्कजानाम् ॥ ६१ ॥

धारी, जिनके हाथमें त्रिशूल है, और शिरपर गङ्गा उन्मत्त होकर क्रीड़ा कर रही हैं, अर्धाङ्ग में जगदम्बा को धारण किये हुए कपाल धारण करनेवाले तीन नेत्रवाले शिवजी आपका मङ्गल करें ॥ ५८ ॥ जो सकल विघ्नों के अन्धकार को हटाने में सूर्य के समान हैं, गण्ड-स्थल के मदकी सुगन्धि से लुब्ध होकर भ्रमरगण जिनकी सेवा कर रहे हैं, चरणों में रत मनुष्य को जो दिव्य भोग प्रदान करते हैं, जिन का दण्डस्वरूप दन्त शोभा पा रहा है, उन गजानन गणनायक का जयजयकार हो ॥ ५९ ॥ इन्द्रादि देवताओं के शिरों पर जिसके पद के नखों की प्रभा पुष्पों के समान सुशोभित है, आयुधों सहित बाहुदण्डों से और प्रचण्ड महिषासुर के वध से जिसकी मूर्ति विकट हो रही है, उस त्रिलोचन सदाशिव की प्रिया का जयजयकार हो ॥ ६० ॥ आकाश में नक्षत्रमण्डल मेंसे जिनका रथ अरुणदेव निरन्तर हांक कर लेजाते हैं, जो अन्धकार नाश करने में प्रवृत्त हैं, जिन्होंने चन्द्रमा का प्रकाश मन्द करदिया है और जो कमलों के मित्र हैं, उन सूर्यनारायण का जयजयकार हो

धारणाऽपि च सा तस्य जगत्कल्याणधारणा।
ब्रह्मध्यानं हि तद्ध्यानं धर्मेषु सकलेष्वपि ॥ १५ ॥
ऐक्यबुद्धिस्तु बुद्धिः स्यात्सम्प्रदायेष्वपि भृशम्।
मित्रे शत्रौ सुखे दुःखे स्त्रियां पुंसि तथैव च ॥ १६ ॥
स्वर्णे लोष्ठे चैषु साम्यं द्वन्द्वेष्वन्येष्वपि ध्रुवम्।
समाधिः कथिता तस्य महामहिमशालिनः ॥ १७ ॥
जगत्कल्याणबुद्ध्यैव केवलं देहधारणम्।
तपः समीरितं तस्य सर्वप्राणिहितैषिणः ॥ १८ ॥
ज्ञानोपदेशाज्जीवेभ्यस्त्वभयं दानमुत्तमम्।
दानं स्वभावजं विद्धि तत्तस्य विदितात्मनः ॥ १९ ॥
तदैव सम्भवस्त्वस्या उन्नताया विशेषतः।
दशाया हंस संज्ञाया यदा दृष्टत्वमाप्नुयात् ॥ २० ॥
सन्न्यासी कर्मणां सप्तभूमिकायास्तथैव च।
उपासनायाः सप्तानां भूमिकानां मुनीश्वराः ॥ २१ ॥
भूमिकानाञ्च सप्तानां ज्ञानस्य परमर्षयः।
रहस्यं स्यात्तस्य सप्त दर्शनानाञ्च हृद्गतम् ॥ २२ ॥

कल्याण की धारणा ही उसकी धारणा है। ब्रह्म का ध्यान करना ही उसका ध्यान है ॥ १५ ॥ सब धर्म और सम्प्रदायों में ऐक्य बुद्धि ही उसकी बुद्धि है। शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, स्त्री-पुरुष, सुवर्ण-लोष्ठ और ऐसेही अन्य द्वन्द्वों में भी समभाव रखना ही उस महान् प्रतापी पुरुष की समाधि कही गई है ॥ १६-१७ ॥ केवल जगत्कल्याण की बुद्धि से देह धारण करना ही उसका सर्व-प्राणि-हितकारी तप है ॥ १८ ॥ ज्ञान के उपदेश से जीवमात्र को उत्तम अभय दान देना ही उस परम ज्ञानी पुरुष का स्वभाव सिद्ध दान है ॥ १९ ॥ हे मुनीश्वरो! इस विशेष उन्नत हंस संज्ञक दशा का तभी सम्भव हो सकता है, जब सन्न्यासी सप्त कर्मभूमि और सप्त उपासनाभूमि को पूर्ण रूप से जान लेगा ॥ २०-२१ ॥ हे महर्षियो! सप्तज्ञानभूमि और सप्त दर्शनों का रहस्य जब

चतुर्णां योगमार्गाणां सः स्याच्च पथदर्शकः ।
सन्न्यास्ये तदवस्थाढ्यो मनसि प्रलयं गते ॥ २३ ॥
उन्नतायां दशायां हि ब्रह्मसद्भावमृच्छति ।
चतुर्धा गुरवो ज्ञेयास्तत्र शिक्षागुरुः खलु ॥ २४ ॥
व्यावहारिकशिक्षायाः प्रवर्तक उदाहृतः ।
विद्यागुरुर्यो वेदादि शास्त्रमध्यापयेत्सुधीः ॥ २५ ॥
दीक्षागुरुर्यः शिष्यान्स्वान्योजयेदवधानतः ।
कर्मोपासनयोर्मध्येऽन्यतरस्मिन्विधानतः ॥ २६ ॥
जगद्गुरुः स विज्ञेयः शिष्यानुपदिशन् हि यः ।
ब्रह्मविद्यां नयेत्कालं लोकसङ्ग्रहणेच्छया ॥ २७ ॥
पूजनीयोऽधिकं त्वेषु परः पर इति स्मृतिः ।
अन्तिमस्तु विशेषेण साक्षाद् ब्रह्मस्वरूपभाक् ॥ २८ ॥
असङ्कल्पाज्जयेत्कामं क्रोधं कामविवर्जनात् ।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्षणात् ॥ २९ ॥

उसे हृद्गत हो जायगा, चारों योग मार्गों का वह पथ-प्रदर्शक बनेगा और उसका मन जब विलीन हो जायगा, तब इस उन्नत दशा में आरूढ़ हुआ सन्न्यासी ब्रह्म सद्भाव को प्राप्त करता है । चार प्रकार के गुरु होते हैं । उनमें प्रथम शिक्षागुरु, जो व्यवहार सम्बन्धी शिक्षा का प्रवर्तक कहा गया है । द्वितीय बुद्धिमान् विद्यागुरु, जो वेदादि शास्त्रों को पढावे ॥ २२-२५ ॥ तृतीय दीक्षा गुरु, जो अपने शिष्यों को यत्न के साथ कर्म अथवा उपासना में से किसी एक की यथाविधि दीक्षा दे ॥ २६ ॥ और चतुर्थ जगद्गुरु उसे जानना चाहिये जो शिष्यों को ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हुए लोकसङ्ग्रह की इच्छा से अपना समय व्यतीत करता है ॥ २७ ॥ इनमें एक से एक अधिक पूजनीय हैं और अन्तिम जगद्गुरु तो साक्षात् ब्रह्मस्वरूप होता है ॥२८॥ सङ्कल्प न कर काम को जय करना चाहिये । काम के त्याग से क्रोध को, अर्थ और अनर्थ के विचार से लोभ को, तत्व चिन्तन से भय को, अध्यात्म विद्या से शोक मोह को, गुरुजन की उपासना से दम्भ को,

आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया ।
योगान्तरायान्मौनेन हिंसां कामाद्यनीहया ॥ ३० ॥
कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात्समाधिना ।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्वनिषेवया ॥ ३१ ॥
रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वंचोपशमेन च ।
एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत् ॥ ३२ ॥

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च मार्गद्वयमुदीरितम् ।
गार्हस्थ्ये हि प्रवृत्तेर्वै त्ववसानं निगद्यते ॥ ३३ ॥

निवृत्तेः पूर्णतायुक्ता हंस एवाश्रमे ध्रुवम् ।
यतः परमहंसस्य निस्त्रैगुण्या दशा मता ॥ ३४ ॥

यथा गृहस्थ ऐश्वर्यभोगस्याकरणेन तु ।
तथा तच्चिन्हरहितो लज्जेत जनसंसदि ॥ ३५ ॥

तयोस्तु स्वीकृतौ युक्ता लज्जा सन्न्यासिनस्तथा ।
परवैराग्य लक्ष्मैतद्धीरियं च यथार्थतः ॥ ३६ ॥

मौन से योग विघ्नको और वासना न करने से हिंसा को जय करना चाहिये । कृपा से आधिभौतिक दुःख को, सविकल्प समाधि से आधिदैविक दुःख को और योगवीर्य से अध्यात्मिक दुःख को जला देना चाहिये। निद्रा को सात्विक आचरण से, रज और तम को सत्वगुण से, सत्त्व को उपशम से और इन सभों को सद्गुरु में भक्ति करने से पुरुष शीघ्र जीत लेता है ॥२९-३२॥ प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दो मार्ग कहे गये हैं । गृहस्थाश्रम में प्रवृत्ति की समाप्ति हो जाती है और निवृत्ति की पूर्णता हंस दशा में होती है । क्योंकि परमहंस दशा तो त्रिगुणातीत दशा है ॥३३-३४॥ कोई गृहस्थ ऐश्वर्य भोग न करे और ऐश्वर्य भोग के चिन्होंसे रहित हो, तो वह जनसमाज में जिसप्रकार लज्जित होता है ॥३५॥ उसी प्रकार ऐश्वर्य भोग का स्वीकार करने से और ऐश्वर्य के चिन्ह धारण करने से सन्न्यासियों को लज्जित होना चाहिये। यही पर-वैराग्य का लक्षण है और शास्त्रों में इसी को 'ह्री' कहते हैं ॥ ३६ ॥

हठमन्त्र लयानां वै योगानां च यदा भवेत् ।
आचार्यस्तत्त्वविद्योगी तदा हंसव्रतं चरेत् ॥ ३७ ॥
राजयोगे यदापूर्णोऽधिकारी योगिराड् भवेत् ।
स महापुरुषो विप्राः ! तदा हंसव्रतं चरेत् ॥ ३८ ॥
भूमिकाकर्मयोगस्य शुभेच्छा प्रथमा स्मृता ।
विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा ॥ ३९ ॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंक्तिनामिका ।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥ ४० ॥
पूर्णज्ञानं विनैतासां राजयोगी भवेन्न हि ।
उपासनाया भक्तेश्च भूमिका गदतः शृणु ॥ ४१ ॥
प्रथमा भूमिका नामपरा रूपपराऽपरा ।
स्याद्विभूतिपरा नाम्ना तृतीया भूमिका मता ॥ ४२ ॥
तथा शक्तिपरा नाम चतुर्थी भूमिका भवेत् ।
एवं गुणपरा ज्ञेया भूमिका पञ्चमी बुधैः ॥ ४३ ।
षष्ठी भावपरा ज्ञेया सा स्वरूपपराऽन्तिमा ।
पूर्णज्ञानं विनैतासां राजयोगी भवेन्न हि ॥ ४४ ॥

जब तत्ववेत्ता योगी हठयोग, मन्त्रयोग और लययोग में आचार्य हो जाय, तब उसे हंस व्रत ग्रहण करना चाहिये ॥ ३७ ॥ जब वह योगिराट् महापुरुष राजयोग में पूर्ण अधिकारी होजाय, तब हे विप्रो ! उसे हंस व्रत का ग्रहण करना चाहिये ॥ ३८ ॥ कर्मयोग की प्रथम भूमिका का नाम शुभेच्छा है। दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसा चौथी सत्वापत्ति, पांचवीं असंसक्ति, छठी पदार्थाभावनी और सातवीं भूमिका का नाम तुर्यगा कहागया है ॥ ३९-४० ॥ इनका पूर्ण ज्ञान हुए विना कोई राजयोगी नहीं होता। उपासना और भक्ति की भूमिकाओं को कहता हूं, सो भी सुनो ॥ ४१ ॥ उपासना की पहिली भूमिका को नामपरा कहते हैं। दूसरी रूपपरा, तीसरी विभूतिपरा ॥४२॥ चौथी शक्तिपरा, पांचवीं गुणपरा, छठी भावपरा और सातवीं भूमिका का नाम स्वरूपपरा है ऐसा जानना चाहिये । इनका पूर्ण ज्ञान हुए बिना कोई राजयोगी नहीं होता ॥ ४३-४४ ॥ हे विप्रो !

ज्ञानस्य भूमिका विप्राः! इमाः सर्वाः प्रकीर्त्तिताः।
ज्ञानदा ज्ञानभूमेर्हि प्रथमा भूमिका मता ॥ ४५ ॥
सन्न्यासदा द्वितीया स्यात्तृतीया योगदा भवेत्।
लीलोन्मुक्तिश्चतुर्थी वै पञ्चमी सत्पदा स्मृता ॥ ४६ ॥
षष्ठ्यानन्दपदा ज्ञेया सप्तमी तु परात्परा।
पूर्णज्ञानं विनैतासां तद्वच्चानुभवं विना ॥ ४७ ॥
सम्बन्धज्ञानमन्योन्यमेतासामन्तरा तथा।
कथञ्चिदपि सन्न्यासी राजयोगी भवेन्न हि ॥ ४८ ॥
उच्चावचेषुभूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः।
ध्यानयोगेन सम्पश्येद्गतिमस्याऽन्तरात्मनः ॥ ४९ ॥
सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ५० ॥
अहिंसयेन्द्रियाऽसङ्गै वैदिकैश्चैव कर्म्मभिः।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥ ५१ ॥

ज्ञान की भूमिकाओं के नाम इस प्रकार कहे गये हैं। ज्ञानभूमि की पहिली भूमिका का नाम ज्ञानदा है। दूसरी सन्न्यासदा, तीसरी योगदा, चौथी लीलोन्मुक्ति, पांचवीं सत्पदा, छठी आनन्दपदा और सातवीं भूमिका का नाम परात्परा है। इनका पूर्णज्ञान और अनुभव हुए विना एवम् इनके परस्पर के सम्बन्ध का ज्ञान हुए विना कोई सन्न्यासी कभी राजयोगी नहीं हो सकता ॥ ४५-४८ ॥ उन्नत और अवनत प्राणियों में अकृतात्माओं के लिये दुर्ज्ञेय अन्तरात्मा की गति ध्यान योग से ही जानने योग्य है ॥ ४९ ॥ उत्तम दार्शनिक ज्ञान से सम्पन्न पुरुष कर्म्मों से बद्ध नहीं होता। दार्शनिक ज्ञानहीन पुरुष संसार में ही पड़ा रहता है * ॥ ५० ॥ अहिंसा, इन्द्रियों के विषयों में असङ्ग, वैदिक कर्मों का अनुष्ठान और उग्रतप के अनुष्ठान से वह

---

* इसी कारण वैदिक दर्शनशास्त्रों को दर्शन कहते हैं। और दार्शनिक ज्ञान ही मुक्ति का साक्षात् कारण समझा गया है।

नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा ।
तथात्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद् ग्राहाद्विमुच्यते ॥ ५२ ॥
चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्म्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ ५३ ॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म्मलक्षणम् ॥ ५४ ॥
दशलक्ष्माणि धर्म्मस्य ये विप्राः समधीयते ।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ५५ ॥
येन सर्व्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।
तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदर्शिवान् ॥ ५६ ॥
वहिः सूत्रं त्यजेद्विद्वान् योगमुत्तममास्थितः ।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः सचेतनः ॥ ५७ ॥
धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाऽशुचिर्भवेत् ।
सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् ॥ ५८ ॥

(उन्नत) पद प्राप्त होता है ॥ ५१ ॥ नदी के तट को जैसे वृक्ष छोड़ देता है अथवा वृक्ष को जैसे शकुनी छोड़ देता है वैसे ही इस शरीर को छोड़ कर वह यति कठिन वन्धन से मुक्त हो जाता है ॥ ५२ ॥ चारों आश्रमों के द्विजों को दशलक्षण युक्त धर्म का नित्य ही यत्न पूर्वक सेवन करना चाहिये ॥ ५३ ॥ धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य, और अक्रोध ये दश धर्म के लक्षण हैं ॥ ५४ ॥ धर्म के उक्त दशों लक्षणों को जो द्विज समझता है और समझ कर तदनुसार आचरण करता है, वह परम गति को प्राप्त करता है ॥ ५५ ॥ धागे में मणियोंकी भाँति जिसमें यह सब जगत् पिरोया हुआ है, इसप्रकारका सूत्र रूपी यज्ञोपवीत तत्त्वदर्शी योगवेत्ता योगी को धारण करना चाहिये ॥ ५६ ॥ उत्तम योग में निरत विद्वान् को वाह्य सूत्र अर्थात् स्थूलयज्ञोपवीत का त्याग कर यह ब्रह्मभाव का सूत्र धारण करना चाहिये। क्योंकि यह अध्यात्म यज्ञोपवीतरूप सूत्र चेतन है ॥ ५७ ॥ इस सूत्र के धारण से वह सूत्र न उच्छिष्ट होता है न अपवित्र ही। जिन ज्ञान-

ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ।
ज्ञानशिखा ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ॥ ५९ ॥
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते ।
गुणत्रयस्य या नित्या धारणा तत्त्रिदण्डकम् ॥ ६० ॥
यद्वाऽध्यात्माधिदैवाधिभौतिकत्रयधारणाम् ।
बुधास्त्रिदण्डं प्राहुर्वै तयोरन्तिममुत्तमम् ॥ ६१ ॥
प्रकृतेः पुरुषस्याऽपि द्रष्टुर्दृश्यस्य चैवहि ।
धारणां प्राहुरात्मज्ञा द्विदण्डमिति शब्दतः ॥ ६२ ॥
स्वरूपज्ञानमात्रेऽत्र स्थितिर्यस्य द्विजन्मनः ।
एकदण्डी स विज्ञेयः सर्वस्मादपि चोत्तमः ॥ ६३ ॥
तेषामेव स्मारका वै स्थूलदण्डा इमे मताः ।
निवृत्तयेऽध्वश्रमतः श्वसर्पादिभयात्तथा ॥ ६४ ॥
दण्डं तु वैणवं सौम्यं सत्वचं समपर्वकम् ।
पुण्यस्थलसमुत्पन्नं नानाकल्मषशोधितम् ॥ ६५ ॥

यज्ञोपवीतियों का अन्तर्जगत् सम्बन्धीय आध्यात्मिक सूत्रहोता है, वेही संसार में सूत्रवेत्ता और यज्ञोपवीतधारी हैं । ज्ञानयज्ञोपवीतियों की ज्ञाननिष्ठा ही ज्ञानशिखा है ॥ ५८-५९ ॥ उनका आत्मज्ञान ही पवित्र ज्ञान कहा गया है । तीन गुणों की नित्य धारणा को त्रिदण्ड कहते हैं ॥ ६० ॥ अथवा अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन तीनों की धारणा ही त्रिदण्ड धारण है। उक्त गुणत्रय और भावत्रय की धारणा में विद्वानों के मत से भावत्रय की धारणा ही श्रेष्ठ है ॥६१॥ प्रकृति और पुरुष तथा द्रष्टा और दृश्य की धारणा को आत्मज्ञानी द्विदण्ड कहते हैं ॥ ६२ ॥ जिस द्विज की स्वरूपज्ञान मात्र में स्थिति हो, उसे एकदण्डी जानना चाहिये और यह सब से उत्तम है ॥६३॥ उन्हीं के स्मारक स्वरूप ये स्थूल दण्ड हैं । जो मार्ग का श्रम दूर करने और सांप, कुत्ता आदि के भय से बचने के काम आते हैं ॥६४॥ बांस का, सौम्य, त्वचा सहित, सम पर्व वाला, पुण्य स्थल में उत्पन्न, नाना कल्मष रहित, बिना जला, कीड़ों ने जिसे नहीं काटा हो, हरएक

अदग्धमहतं कीटैः पर्वग्रन्थिविराजितम् ।
नासादघ्नं शिरस्तुल्यं भ्रवोर्वा बिभ्रियाद्यतिः ॥ ६६ ॥
दण्डात्मनोऽस्तु संयोगः सर्वथा तु विधीयते ।
न दण्डेन विना गच्छेदिषुत्क्षेपत्रयं बुधः ॥ ६७ ॥
सन्न्यासिनं द्विजं दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः ।
एष मे मण्डलं भित्त्वा परंब्रह्माऽधिगच्छति ॥ ६८ ॥
षष्ठिं कुलान्यतीतानि षष्टिमागामिकानिच ।
कुलान्युद्धरते प्राज्ञः सन्न्यस्तमिति यो वदेत् ॥ ६९ ॥
ये च सन्तानजा दोषा ये दोषा देहसम्भवाः ।
प्रैषाऽग्निर्निर्दहेत्सर्वांस्तुषाऽग्निरिव काञ्चनः ॥ ७० ॥
कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता ।
उपेक्षा सर्वभूतानां एतावद्भिक्षुलक्षणम् ॥ ७१ ॥
यस्मिन् वाचः प्रविशन्ति कूपे त्रस्ता द्विपा इव ।
न वक्तारं पुनर्यान्ति स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥ ७२ ॥

पोर में ग्रन्थि से सुशोभित, नासिका तक, शिर तक अथवा भृकुटि तक का लम्बा दण्ड यति को धारण करना चाहिये ॥ ६५-६६ ॥ दण्ड के साथ आत्मसंयोग सर्वथा रहना चाहिये । दण्ड के बिना तीन वार छोड़ने से वाण जितना दूर जाता हो, उतने दूर भी नहीं जाना चाहिये ॥६७॥ सन्न्यासी द्विज को देखकर सूर्यनारायण भी स्वस्थान से इस कारण चलित होते हैं कि यह मेरा मण्डल भेदन कर ब्रह्म के निकट जाता है ॥६८॥ जो बुद्धिमान् केवल 'सन्न्यस्तं' कहता है, वह अतीत साठ कुल और आगामी साठ कुलों का उद्धार करता है ॥६९॥ तुषानल जिस प्रकार सुवर्ण के दोषों को जला देता है, उसी प्रकार सन्तान सम्बन्धी और देह सम्भव दोषों को प्रैषाग्नि जला देता है ॥७०॥ कमण्डलु ग्रहण करना, वृक्ष के मूल में वास करना, साधारण वस्त्र ओढ़ना, असहाय रहना, सब भूतों की उपेक्षा करना ये सब सन्न्यासियों के लक्षण हैं ॥ ७१ ॥ कुएँ में गिरे हुए त्रस्त हस्तियों की तरह जिसमें वाणिएँ आ गिरती हैं और वे पुनः वक्ता के पास नहीं लौट जाती, उसे कैवल्याश्रममें रहना चाहिये ॥ ७२ ॥ किसी का अवाच्य

नैव पश्येन्नशृणुयादवाच्यं जातु कस्यचित् ।
ब्राह्मणानां विशेषेण नैव ब्रूयात्कथञ्चन ॥ ७३ ॥
यद्ब्राह्मणस्य कुशलं तदेव सततं वदेत् ।
तुष्णीमासीत निन्दायां कुर्व्वन्भैषज्यमात्मनः ॥ ७४ ॥
येनपूर्णमिवाकाशं भवत्येकेन सर्व्वदा ।
शून्यं येन जनाकीर्णं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ७५ ॥
येनकेनचिदाच्छन्नो येनकेनचिदाशितः ।
यत्र क्वचनशायी च तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ७६ ॥
अहेरिव गणाद्भीतः सौहित्यान्नरका दिव ।
कुणपादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ७७ ॥
न क्रुध्येन्न प्रहृष्येच्चमानितोऽमानितश्च यः ।
सर्व्वभूतेष्वभयदस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ७८ ॥
अनभ्याहतचित्तः स्यादनभ्याहतवाग्भवेत् ।
निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यो निरमित्रस्य किं भयम् ॥ ७९ ॥

न देखे न सुने । विशेषतया ब्राह्मणों को अवाच्य कभी न बोले ॥ ७३ ॥ जो ब्राह्मण का कुशल है, वही सर्वदा कहे । जहाँ निन्दा होती हो वहां चुप रह जाय और उसी को अपनी औषधि समझे ॥ ७४ ॥ जिस योगिराज का चित्ताकाश महाकाश में मिलकर एक अद्वितीय रूप धारण करलेता है और जिसकी अद्वैतधारणा से बहुजनता-पूर्ण स्थान भी शून्यसा प्रतीत होता है, देवताओं के मत से वह ब्राह्मण है ॥ ७५ ॥ जिस निर्विकल्प समाधिस्थ संन्यासिप्रवर का शरीर कोई ढकदे या उसे कोई भोजन करादे, या अनि केलन रूपसे कहीं सो जाय ऐसे देहाध्यास रहित महापुरुष को देवतागण ब्राह्मण करके जानते हैं ॥ ७६ ॥ सर्प के समान मनुष्यों की भीडसे, नरक के समान लौकिक सेवकों से, शव के समान स्त्री से जो भय करता है, देवताओं के मत से वह ब्राह्मण है ॥ ७७ ॥ मान करने से जो प्रसन्न नहीं होता और अपमान करने से क्रोध नहीं करता एवम् सब भूतों को अभय दान किया करता है, देवताओं के मत से वह ब्राह्मण है ॥ ७८ ॥ जिसका न तो विकल चित्त है

अभयं सर्वभूतेभ्यो भूतानामभयं यतः ।
तस्य मोहाद्विमुक्तस्य भयं नाऽस्ति कुतश्च न ॥ ८० ॥
यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम् ।
एवं सर्वमहिंसायां धर्म्मार्थमपि धीयते ॥ ८१ ॥
अमृतः स नित्यं वसति यो हिंसां न प्रपद्यते ।
अहिंसकः समःसत्यो धृतिमान्नियतेन्द्रियः ॥ ८२ ॥
शरण्यः सर्व्वभूतानां गतिमाप्नोऽस्त्यनुत्तमाम् ।
एवं प्रज्ञानतृप्तस्य निर्भयस्य निराशिषः ॥ ८३ ॥
न मृत्योरतिगोभावः स मृत्युमधिगच्छति ।
विमुक्तं सर्व्वसङ्गेभ्यो मुनिमाकाशवत्स्थितम् ॥ ८४ ॥
अस्वमेकचरं शान्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।
जीवितं यस्य धर्म्मार्थं धर्म्मो हर्य्यर्थमेव च ॥ ८५ ॥
अहोरात्राश्च पुण्यार्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।
निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ॥ ८६ ॥

और न जिसकी वाणी ही विकल है, उस शत्रु रहित समस्त पापों से मुक्त पुरुष को किसका भय है? ॥ ७९ ॥ सब भूतों से जो अभय है और जिससे सब भूत अभय हैं, उस मोहरहित पुरुष को कहीं भी भय नहीं है ॥ ८० ॥ हाथी के पैर में सभी पदगामियों के जिस प्रकार पैर आजाते हैं, उसी प्रकार अहिंसा में सब धर्म और अर्थ आजाते हैं ॥ ८१ ॥ जो हिंसा नहीं करता वह नित्य अमृत रूप से रहता है। हिंसा शून्य, समबुद्धि, सत्यस्वरूप, धृतिमान् और जो जितेन्द्रिय है, वह सब भूतों का शरण्य है एवम् वह उत्तम गति प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रज्ञा से तृप्त, निर्भय, निराशी और मृत्यु का अतिक्रमण करने का जिसका भाव नहीं है अर्थात् मृत्यु की जिसे पर्वाह नहीं है वह यथार्थ मृत्यु को प्राप्त करता है अर्थात् मुक्त होता है । सर्व सङ्ग से मुक्त, आकाशवत् स्थित, और जिसका अहङ्कार दूर हो गया है उस शान्त, एकभावापन्न मुनि को देवता ब्राह्मण करके जानते हैं । जिसका जीवन धर्म के लिये,

निर्मुक्तं बन्धनैः सर्वैस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ८७ ॥
सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते । सर्वाणि दुःखस्य भृशं त्रसन्ते ।
तेषां भयोत्पादनजातखेदः । कुर्यान्न कर्म्माणि हि श्रद्दधानः॥८८॥
दानं हि भूताऽभयदक्षिणायाः । सर्वाणि दानान्यधितिष्ठतीह ।
तीक्ष्णां तनुं यः प्रथमं जहाति सोऽनन्त्यमाप्नोत्यभयंप्रजाभ्यः॥८९॥
इति श्रीसन्न्यासगीतायां हंसधर्मनिरूपणं नाम नवमोऽध्यायः ॥

शुक उवाच ।
ब्रह्मर्षे ! श्रुतमस्माभिस्तवानुग्रहतः स्फुटम् ।
सन्न्यासधर्म्मत्रितयाऽधिकारस्य स्वरूपकम् ॥ १ ॥
अधुनाऽत्यन्तगहनमन्तिमस्य विशेषतः ।
अस्मान् परमहंसस्य स्वरूपं वर्णयन् विभो ॥ २ ॥

जिसका धर्माचरण भगवान के लिये और जिसके दिन रात पुण्य के लिये हैं, देवताओं के मत से वह ब्राह्मण है। आशापाश रहित, नवीन कर्म न करने वाला, नमस्कार व स्तुति रहित, सब प्रकार के बन्धनों से निर्मुक्त पुरुष को देवता गण ब्राह्मण करके मानते हैं ॥ ८२-८७ ॥ सभी प्राणि सुख से प्रसन्न होते हैं और दुःख से अत्यन्त त्रस्त होते हैं। अतः उन प्राणियों को भय उत्पन्न होने से जो दुःखित होता हो, उस श्रद्धालु सन्न्यासी को कर्म से रहित होना चाहिये। प्राणिमात्र को अभय दक्षिणा देना अर्थात् तत्वज्ञान दान करना सब दानों में अधिष्ठाता अर्थात् श्रेष्ठ है। जो पहिले ही अपनी तीक्ष्ण तनु अर्थात् अपनी देह द्वारा औरोंको क्लेश पहुंचाना त्याग करता है, वह सब संसार से अनन्त अभय को प्राप्त होता है। अर्थात् ऐसे महा पुरुष को कोई दुःखदायी जगत् में नहीं होता ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीसन्न्यासगीता का हंसधर्मनिरूपण
नामक नवम अध्याय समाप्त हुआ ॥

श्री शुकदेवजी बोलेः-हे ब्रह्मर्षे ! आपकी कृपा से हम लोगों ने तीन प्रकार के सन्न्यास धर्म के अधिकार का स्वरूप सुन लिया। अब अत्यन्त गहन अन्तिम और सर्वथा पूजनीय परमहंस स्वरूप और

दशायाः सर्व्वतोऽर्हायाः कृतकृत्यान् कुरुष्वह ॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच ।

भेदः परमहंसस्य ब्रह्मणासह कोऽपि न ।
अहमेवाऽस्मि ब्रह्मेति भावस्याऽनुभवंविना ॥ ४ ॥
कश्चित्परमहंसस्य पदवीं लभते नहि ।
द्वैतभानं दशायाञ्चाप्यस्यां नैवाऽभिजायते ॥ ५ ॥
सच्चिदानन्दरूपायाऽप्यद्वैत स्थितिरुत्तमा ।
अस्यामेव दशायां सात्वन्तिमायां प्रवर्त्तते ॥ ६ ॥
तदानीं जायते चाऽऽत्मारामः सन्न्यासिसत्तमः ।
आत्मारामत्वऽऽसम्प्राप्तावपि द्वैविध्यमूह्यताम् ॥ ७ ॥
परहंसस्य प्रारब्धकर्म्मवैचित्र्यदर्शनात् ।
ईशकोटिर्ब्रह्मकोटिरिति द्वे नामनी श्रुते ॥ ८ ॥
परहंसो ब्रह्मकोटेर्मूकस्तब्धो जडस्तथा ।
उन्मत्तो बालचेष्टश्च न जगत्तेन लाभवत् ॥ ९ ॥
परहंसस्त्वीशकोटेः परांकाष्ठां गतोऽनिशम् ।
निष्कामस्य व्रतस्याऽत्र जगज्जन्मादि शक्तिमत् ॥ १० ॥

उसकी दशा का विशेष रूप से वर्णन कर आप हमें कृतार्थ करें॥१-३॥
महर्षि याज्ञवल्क्यजी बोलेः-परमहंस का ब्रह्म के साथ कोई भेद नहीं है। 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूं इस भाव के अनुभव विना कोई परमहंस पदवी को नहीं प्राप्त कर सकता। इस दशा में द्वैतभाव का भान ही नहीं रहता ॥ ४-५॥ सच्चिदानन्द रूप उत्तम अद्वैतस्थिति इसी अन्तिम दशा में प्राप्त होती है॥६॥ और तभी वह उत्तम सन्न्यासी आत्माराम हो जाता है। आत्माराम की प्राप्ति में दो प्रकार हैं ॥ ७ ॥ प्रारब्ध कर्म के वैचित्र्य से ईश कोटि और ब्रह्मकोटि इस प्रकार से दो प्रकार की परमहंस दशा होती है ॥ ८ ॥ ब्रह्मकोटि का परमहंस मूक, स्तब्ध, जड़, उन्मत्त और बालकों की तरह चेष्टा करनेवाला होता है। उससे जगत् को कोई लाभ नहीं पहुँचता ॥ ९ ॥ ईश कोटि की परा-काष्ठा तक पहुँचा हुआ परमहंस दिन रात जगज्जन्मादि शक्तिशाली

जगदीशप्रतिनिधिर्भूत्वा तत्कर्मसंरतः ।
जगद्धितार्थं विप्रर्षे ! एनं विद्धीशरूपिणम् ॥ ११ ॥
परमहंसस्त्वीशकोटेर्ब्रह्मरूपधरोऽपि सन् ।
देवर्षिशक्तियुक्तश्च भवतीति विनिश्चयः ॥ १२ ॥
ज्ञानदाता भयत्राता स एव जगतां मतः ।
ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते ॥ १३ ॥
काष्ठदण्डो धृतो येन सर्व्वाशी ज्ञानवर्जितः ।
स याति नरकान् घोरान् महारौरवसंज्ञितान् ॥ १४ ॥
प्रतिष्ठा सूकरीविष्ठासमा गीता महर्षिभिः ।
तस्मादेनां परित्यज्य कीटवत् पर्य्यटेद् यतिः ॥ १५ ॥
अयाचितं यथालाभं भोजनाच्छादनं भवेत् ।
परेच्छया च दिग्वासाः स्नानं कुर्यात् परेच्छया ॥ १६ ॥
स्वप्नेऽपि यो हि युक्तःस्याज्जाग्रतीव विशेषतः ।
ईदृक्चेष्टः स्मृतः श्रेष्ठो वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम् ॥ १७ ॥

भगवान् का प्रतिनिधि होकर, निष्काम व्रत ग्रहण कर भगवान् के कार्यों में लगा रहता है। हे विप्रर्षे ! ऐसे ईशस्वरूप परमहंस की उत्पत्ति जगत् के कल्याणार्थ ही हुआ करती है ऐसा समझना चाहिये ॥ १०–११ ॥ ईश कोटि का परमहंस ब्रह्मस्वरूप और देवता तथा ऋषियों की शक्ति से युक्त होता है, इसमें सन्देह नहीं ॥ १२ ॥ वही संसार का ज्ञानदाता और भयत्राता है । जिसने ज्ञानदण्ड धारण किया है, वही एकदण्डी कहने योग्य है । जिसकी आशाएँ नहीं छूटी हैं और जो ज्ञान शून्य है, वह लकड़ी का दण्ड धारण करले तो निःसन्देह घोर महारौरव नरक में जायगा ॥ १३–१४ ॥ महर्षियों के मत से प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा के समान है । अतः उसका त्यागकर सन्न्यासी को कीट की तरह पर्यटन करना चाहिये ॥ १५ ॥ विना मांगे जो कुछ मिल जाय उसी से भोजन आच्छादन करना चाहिये । उसमें अपनी इच्छा कुछ भी न रहे । न चेत् दिगम्बर रह कर दूसरों की इच्छा से ही स्नान करें ॥ १६ ॥ स्वप्न में भी जो

पांसुनाच प्रतिच्छन्नशून्यागारप्रतिश्रयः ।
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाऽप्रियः ॥ १८ ॥
यात्रास्तमितशायी स्यान्निरग्निरनिकेतनः ।
यथालब्धोपजीवीस्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः ॥ १९ ॥
निष्क्रम्य वनमास्थाय ज्ञानयज्ञो गतस्पृहः ।
कालकाङ्क्षी चरन्नेव ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २० ॥
निर्मानश्चाऽनहंकारो निर्द्वन्द्वश्छिन्न संशयः ।
नैव क्रुध्यति न द्वेष्टि नाऽनृतं भाषते गिरा ॥ २१ ॥
पुण्यायतनचारी च भूतानामविहिंसकः ।
काले प्राप्ते भवद्भैक्षं कल्पते ब्रह्मभूयसे ॥ २२ ॥
वानप्रस्थ गृहस्थाभ्यां न संसृज्येत कर्हिचित् ।
अज्ञातचर्य्यां लिप्सेत न चैनं हर्ष आविशेत् ॥ २३ ॥

जागृत् की भाँति विशेष रूपसे युक्त हो, इस प्रकार की चेष्टावाले परम हंस ब्रह्मवादियों में श्रेष्ठ और वरिष्ट हैं ॥ १७ ॥ धूलिधूसर शून्यागार में जिसका आश्रय है अथवा वृक्ष के तले जिसका घर है, जिसने प्रिय और अप्रिय को छोड़ दिया है, जो यात्रा प्रसङ्ग में जहाँ सन्ध्या काल हो जाय वहीं शयन करता है, अग्नि रहित, गृह रहित, जो कुछ मिलजाय उसीपर निर्वाह करने वाला, दयालु, जितेन्द्रिय, इच्छा रहित ज्ञानयज्ञपरायण, वन में आकर काल की प्रतीक्षा करता हुआ जो विचरण करता है ; वह मुनि ब्रह्मत्त्व को प्राप्त करता है ॥ ॥ १८-२० ॥ मान रहित, अहङ्कार रहित, द्वन्द्वरहित, संशय रहित होकर जो न क्रोध करता है, न द्वेष करता है और न झूठ बोलता है ॥ २१ ॥ पुण्य गृहों में सञ्चार करने वाला, प्राणिमात्र की हिंसा न करने वाला और जो यथा समय भिक्षा करने वाला है वह ब्रह्मत्त्व को प्राप्त करता है ॥ २२ ॥ वानप्रस्थ और गृहस्थों से संसर्ग न करे। अज्ञात-चर्या की इच्छा करे, हर्ष के अधीन न हो, असत् शास्त्रों में रुचि न करे, जीविका से निर्वाह न करे, अति वाद और तर्कका त्याग करे, किसी का पक्ष ग्रहण न करे, शिष्यों का दल न बांधे, बहुत से ग्रन्थों

नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम् ।
[illegible]स्त्यजेत्तर्कान् पक्षं कञ्चननाश्रयेत् ॥ २४ ॥

न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाऽभ्यसेद्बहून् ।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नाऽऽरम्भानारभेत् क्वचित् ॥ २५ ॥
अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्तार्थो मुनिरुन्मत्तबालवत् ।
कविर्मूकवदात्मानं तद्दृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम् ॥ २६ ॥

न कुर्यान्नवदेत्किञ्चिन्नध्यायेत्साध्वसाधु वा ॥
आत्मारामोऽनयावृत्त्या विचरेज्जड़वन्मुनिः ॥ २७ ॥
एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः ।
आत्मक्रीड आत्मरतिरात्मवान् समदर्शनः ॥ २८ ॥

बुधोबालकवत्क्रीडेत्कुशलो जडवच्चरेत् ।
वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् गोचर्य्यांनैगमश्चरेत् ॥ २९ ॥

का अभ्यास न करे, व्याख्या के पीछे न पड़े, किसी बात का आरम्भ न करे, अव्यक्त लिङ्ग और अव्यक्त प्रयोजन हो कर वह मुनि उन्मत्त बालक की भांति रहे। ज्ञानी हो कर भी मनुष्यों की दृष्टि से मूक भाव प्रकट करे ॥ २३-२६ ॥ कुछ न करे, कुछ न कहे, साधु असाधु का विचार न करें और आत्माराम होकर उपर्युक्त वृत्ति से वह मुनि जड़ की भांति विचरण करे ॥ २७ ॥ अकेला, सङ्ग रहित, संयतेन्द्रिय, अपने आप में क्रीडा करनेवाला, आत्मरति करने वाला, समदर्शी और आत्मवान् परमहंस इस पृथ्वी पर सञ्चार करे ॥ २८ ॥ † पण्डित होकर बालक की भांति क्रीड़ा करे, चतुर होकर जड़ की भांति आचरण करे, विद्वान होकर उन्मत्त की भांति बोले, वेदज्ञ होकर भी पशुवत् आचरण करे ॥ २९ ॥ * अज्ञानी असत् लोगों ने

---

† ये सब पूर्वोक्त वचन परमहंस के लिये अनुशासन वचन या विधि नहीं हैं। परन्तु इनका तात्पर्य यह है कि परमहंसों में स्वाभाविक रूप से ऐसे लक्षण पाये जाते हैं। आत्माराम परमहंस के बहिर्लक्षण प्रायः ऐसे ही हो जाते हैं।

* दृश्य के प्रति उपेक्षा ही इन सब लक्षणों का परिचायक है।

क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽपिवा।
ताडितः सन्निरुद्धो वा वृत्या वा परिहापितः॥ ३०॥
विष्ठितो मूत्रितोवाऽज्ञैर्बहुधैवं प्रकम्पितः।
श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनात्मानमुद्धरेत्॥ ३१॥
सम्माननं परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते यतः।
जनेनावमतो योगी योगसिद्धिञ्च विन्दति॥ ३२॥
तथा चरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन्।
जना यथाऽवमन्येरन् गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम्॥ ३३॥
जरायुजाण्डजादीनां वाङ्मनःकायकर्मभिः।
युक्तः कुर्व्वीत न द्रोहं सर्व्वसङ्गांश्च वर्जयेत्॥ ३४॥
सर्वत्र विचरन्मौनी वायुवद्वीतकल्मषः।
समदुःखसुखः क्षान्तो हस्तप्राप्तञ्च भक्षयेत्॥ ३५॥

चाहे उसे छोड़ दिया हो, अवमानित किया हो, उसका उपालम्भ किया हो, उससे द्वेष किया हो, उसे मारा हो, रोका हो, वृत्ति से च्युत किया हो, विष्टा मूत्र से भ्रष्ट किया हो, अनेक तरह से कँपाया हो, इस प्रकार के कष्टों में पतित कल्याण चाहनेवाला पुरुष अपने आत्म स्वरूप में स्थित रहकर निर्विकार बना रहे॥ ३०-३१॥ जब कि सम्मान ही योगसिद्धि की अत्यन्त हानि करता है, तब इस में सन्देह नहीं कि लोगों से अवमानित होकर योगी योगसिद्धि को प्राप्त करता है॥ ३२॥ योगी इस प्रकार का आचरण करे कि सज्जनों का धर्म उनके द्वारा दूषित न हो और लोग उसका अपमान करते हुए उसका सङ्ग न करें *॥ ३३॥ जरायुज अण्डज आदिकों से वाणी मन या काया के कर्मों द्वारा कभी द्रोह न करे और सब प्रकार के सङ्ग को छोड़ दे॥ ३४॥ वायु के समान कल्मष रहित, दुःख सुख को समान समझनेवाला, क्षमाशील यति मौन अवलम्ब कर सर्वत्र सञ्चार करता हुआ हाथ पर आई हुई भिक्षा को भक्षण करे॥ ३५॥

* जनसङ्ग से पूर्ण वैराग्य ही इन सब लक्षणों का कारण है। ये सब लक्षण ब्रह्मकोटि के परमहंस के हैं।

क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽपिवा ।
ताडितः सन्निरुद्धो वा वृत्या वा परिहापितः ॥ ३० ॥
विष्ठितो मूत्रितोवाऽज्ञैर्वहुधैवं प्रकम्पितः ।
श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनात्मानमुद्धरेत् ॥ ३१ ॥
सम्माननं परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते यतः ।
जनेनावमतो योगी योगसिद्धिञ्च विन्दति ॥ ३२ ॥
तथा चरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन् ।
जना यथाऽवमन्येरन् गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम् ॥ ३३ ॥
जरायुजाण्डजादीनां वाङ्मनःकायकर्मभिः ।
युक्तः कुर्व्वीत न द्रोहं सर्व्वसङ्गांश्च वर्जयेत् ॥ ३४ ॥
सर्वत्र विचरन्मौनी वायुवद्वीतकल्मषः ।
समदुःखसुखः क्षान्तो हस्तप्राप्तञ्च भक्षयेत् ॥ ३५ ॥

चाहे उसे छोड़ दिया हो, अवमानित किया हो, उसका उपालम्भ किया हो, उससे द्वेष किया हो, उसे मारा हो, रोका हो, वृत्ति से च्युत किया हो, विष्ठा मूत्र से भ्रष्ट किया हो, अनेक तरह से कँपाया हो, इस प्रकार के कष्टों में पतित कल्याण चाहनेवाला पुरुष अपने आत्म स्वरूप में स्थित रहकर निर्विकार वना रहे ॥ ३०-३१ ॥ जब कि सम्मान ही योगसिद्धि की अत्यन्त हानि करता है, तब इस में सन्देह नहीं कि लोगों से अवमानित होकर योगी योगसिद्धि को प्राप्त करता है ॥ ३२ ॥ योगी इस प्रकार का आचरण करे कि सज्जनों का धर्म उनके द्वारा दूषित न हो और लोग उसका अपमान करते हुए उसका सङ्ग न करें * ॥ ३३ ॥ जरायुज अण्डज आदिकों से वाणी मन या काया के कर्मों द्वारा कभी द्रोह न करे और सब प्रकार के सङ्ग को छोड़ दे ॥ ३४ ॥ वायु के समान कल्मष रहित, दुःख सुख को समान समझनेवाला, क्षमाशील यति मौन अवलम्ब कर सर्वत्र सञ्चार करता हुआ हाथ पर आई हुई भिक्षा को भक्षण करे ॥ ३५ ॥

* जनसङ्ग से पूर्ण वैराग्य ही इन सब लक्षणों का कारण है। ये सब लक्षण ब्रह्मकोटि के परमहंस के हैं।

कर्म्मणो ह्यपिबोद्धव्यं बोद्धव्यञ्च विकर्म्मणः।
अकर्म्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ ४४॥
कर्म्मण्यकर्म यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ ४५॥
यस्य सर्व्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाऽग्निदग्धकर्म्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ ४६॥
त्यक्त्वा कर्मफलाऽसङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्म्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥ ४७॥
अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥ ४८॥
गुरुर्मनुष्यजातेस्तु ह्यार्य्यजातिर्मता शुभा।
आर्य्यजातेर्ब्राह्मणा हि ब्राह्मणानान्तु न्यासिनः॥ ४९॥

उत्तम कर्म किया है यह अकर्म कहा जा सकता है और यही महायज्ञ है॥ ४३॥ विहित कर्म, अविहित कर्म और अकर्म अर्थात् कर्मरहित अवस्था इन तीनों के स्वरूप में समझने योग्य विषय बहुत कुछ हैं। क्योंकि कर्मविज्ञान की गति बड़ी गहन है। कर्म में जो अकर्म देखता है और अकर्म में जो कर्म देखता है अर्थात् बहिरिन्द्रियों से कर्म होते रहने पर भी जो व्यक्ति कामनारहित अवस्था में कर्म का न होना समझता है और बलपूर्वक इन्द्रियों को रोक कर कर्मरहित होने पर भी मन में वासना रहने के कारण जो व्यक्ति कर्म का होना समझते हैं, ऐसे महापुरुष मनुष्यों में बुद्धिमान हैं, ब्रह्म में युक्त हैं और कर्म न कर के भी कर्म करने वाले हैं॥ ४४-४५॥ जिस के सभी काम वासना के सङ्कल्प से रहित होते हैं और जिसके कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध हो चुके हैं, उसे विद्वान् लोग पण्डित कहते हैं॥ ४६॥ कर्म के फल से असङ्ग, नित्यतृप्त, निराश्रय पुरुष कर्मफल का त्याग कर यदि कर्म करने में प्रवृत्त भी हो, तो वह कुछ नहीं करता अर्थात् उसे कर्म दोष नहीं है॥ ४७॥ यह अपना, यह पराया, ऐसी गणना छोटे चित्त के लोग करते हैं। जो उदारचेता हैं, उनका सारा संसार ही कुटुम्ब है॥४८॥समस्त मनुष्यजाति की गुरु आर्यजाति है। आर्यजाति के गुरु ब्राह्मण और ब्राह्मणों के गुरु सन्न्यासी हैं॥४९॥

ब्राह्मणेषु तपोवृद्धाः श्रेष्ठास्तत्र प्रकीर्तिताः।
तेष्वपि ज्ञानवृद्धा ये तत्राऽपि तत्वदर्शिनः॥ ५० ॥
तत्वदर्शिषु ये युक्ता आत्मारामाश्च तेषु वै।
न्यासिषु क्रमशः श्रेष्ठाः कुटीचकबहूदकौ ॥ ५१ ॥
हंसः परमहंसश्च यद्यप्येते तथापि ह।
आत्मारामत्वमेवैषां लक्ष्यमत्र प्रकीर्तितम् ॥ ५२ ॥
मानवः प्रथमं स्वस्मिन्नार्य्यभावं विधारयन्।
धर्म्मं हि मनुते मुख्यं तदा गार्हस्थ्यमाश्रितः ॥ ५३ ॥
पुत्रेषु च कलत्रेषु तथेष्टमित्रबन्धुषु।
आत्मत्वं तेषु नियतं विलीनयति धर्मवित् ॥ ५४ ॥
देशवासिषु तत्पश्चाज्जगत्सु च ततः परम्।
विलीनेत्येवमात्मत्वं वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ ५५ ॥
मनुते तत्वविज्ज्ञानी जगद्धितपरायणः।
इयं परमहंसस्य गतिः श्रेष्ठा निगद्यते ॥ ५६ ॥
जीवन्मुक्तदशाऽपीयं ज्ञानिनः परिकीर्तिता।
निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायणम् ॥ ५७ ॥

ब्राह्मणों में तपोवृद्ध श्रेष्ठ कहे गये हैं। तपोवृद्धों में ज्ञानवृद्ध श्रेष्ठ और ज्ञानवृद्धों में तत्वदर्शी श्रेष्ठ हैं॥ ५० ॥ तत्वदर्शियों में जो व्यक्ति आत्मा में युक्त हैं वे श्रेष्ठ और उनमें भी आत्माराम श्रेष्ठ हैं। सन्न्यासियों में कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस क्रमशः श्रेष्ठ हैं। इन सभों का आत्माराम होजाना ही अन्तिम लक्ष्य है॥ ५१-५२ ॥ मनुष्य प्रथम अपने में आर्यभाव धारण कर धर्म को मुख्य मानता है। फिर वह धर्मज्ञ गृहस्थाश्रम का आश्रय कर पुत्र, कलत्र, इष्ट, मित्र, बान्धवों में आत्मीयत्व नियमित रूप से स्थापित करता है॥ ५३-५४ ॥ तत्पश्चात् देशवासियों में और फिर सारे संसार में आत्मीयत्व स्थापन कर अन्त में वह जगत् के हित में परायण, तत्ववेत्ता ज्ञानीपुरुष वसुधा को ही कुटुम्ब मानने लगता है। यही परमहंस की श्रेष्ठ गति कही जाती है ॥ ५५-५६ ॥ यही ज्ञानियों की जीवन्मुक्त दशा कही गई है। घोर संसारसागर

सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौ दृढेवाप्सु मज्जताम्।
सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः॥ ५८॥
देवता बान्धवाः सन्तः सन्तो ब्रह्मस्वरूपिणः।
नापेक्षते भविष्यञ्च वर्त्तमाने न तिष्ठति॥ ५९॥
न संस्मरत्यतीतञ्च सर्व्वमेव करोति च।
अन्तःसर्व्वपरित्यागी नित्यमन्तरनेषणः॥ ६०॥
कुर्व्वन्नपि बहिः कार्य्यं सममेवावतिष्ठते।
बहिः प्रकृत सर्व्वेहो यथा प्राप्तक्रियोन्मुखः॥ ६१॥
स्वकर्म्मक्रमसम्प्राप्त बन्धुकार्य्यानुवृत्तिमान्।
समग्रसुखभोगात्मा सर्व्वाशास्विव संस्थितः॥ ६२॥
करोत्यखिलकर्म्माणि त्यक्तकर्तृत्त्वविभ्रमः।
उदासीनवदासीनः प्रकृतक्रमकर्म्मसु॥ ६३॥

में निमज्जन और उन्मज्जन करनेवाले संसारी जीवों के लिये परमाश्रय स्थान, शान्त ब्रह्मवेत्ता सन्त संसार सागर से पार होने के लिये दृढ़ नौका के समान हैं। सूर्य बहिर्वस्तुओं का प्रकाश करते हैं। परन्तु अन्तर्जगत् के दिखाने के लिये महात्मा लोग एक मात्र आश्रय स्थान है॥ ५७-५८॥ सन्त देवता हैं, सन्त बान्धव हैं और सन्त ब्रह्मस्वरूप हैं। वे भविष्यत् की अपेक्षा नहीं रखते, वर्तमान में नहीं ठहरते, अतीत का स्मरण नहीं करते और ऐसे होते हुए सब कुछ किया करते हैं। अन्तःकरण में वे सर्वत्यागी और इच्छारहित होते हैं॥ ५९-६०॥ बाहर से कार्य करते हुए सर्वत्र वे समभाव रखते हैं। बाहर स्वाभाविक रूप से सब प्रकार की इच्छा करनेवाले, अनायास-प्राप्त कर्म में तत्पर और अपने प्रारब्धानुसार प्रवाहपतित रूप से प्राप्त अनुकूल कर्मों में तत्पर रहनेवाले होते हैं। और इस प्रकार से समग्र सुखों को भोगनेवाले के समान और सभी आशाओं में स्थित रहनेवाले के सदृश प्रतीत॥ ६१-६२॥ होते हुए कर्तृत्त्व का विभ्रम छोड़कर वे सभी कर्म करते हैं। प्रकृति के क्रमानुसार प्राप्त कर्मों में उदासीनवत् स्थित होकर॥ ६३॥ वे न

नाऽभिवाञ्छति न द्वेष्टि न शोचति न हृष्यति।
अनुरूपपरजन्तावसंसक्तेन चेतसा ॥ ६४ ॥

भक्तो भक्तसमाचारः शठे शठ इव स्थितः।
बालो बालेषु वृद्धेषु वृद्धो धीरे ऽतिधैर्यवान् ॥ ६५ ॥
युवा यौवनवृत्तेषु दुःखितेष्वनुदुःखितः।
प्रवृत्तवाक्पुण्यकथो दैन्यादप्यपगताशयः ॥ ६६ ॥
धीरधीरुदितानन्दः पेशलः पुण्यकीर्तनः।
प्राज्ञः प्रसन्नमधुरः पूर्णः स्वप्रतिभोदये ॥ ६७ ॥
निरस्तखेददौर्गत्यः सर्वस्मिन्स्निग्धबान्धवः।
उदारचरिताकारः समः सौम्यसुखोदधिः ॥ ६८ ॥
सुस्निग्धः शीतलस्पर्शः पूर्णचन्द्र इवोदितः।
न तस्य सुकृतेनाऽर्थो न भोगैर्नच कर्मभिः ॥ ६९ ॥
न दुष्कृतैर्नभोगानां सन्त्यागेन च बन्धुभिः।
न कार्यकारणारम्भैर्न निष्कृततया तथा ॥ ७० ॥

इच्छा करते न द्वेष करते, न शोक करते और न प्रसन्न ही होते हैं ॥ ६४ ॥ सम्बन्धयुक्त प्राणियों के विषय में आसक्तिरहित चित्त से वे भक्तों से भक्त के समान आचरण करते और दुष्टों के साथ दुष्ट के समान प्रतीत हो जाते हैं। बालक के साथ बालक, वृद्धों के साथ वृद्ध, धीर के साथ अत्यन्त धर्मशील, युवा के साथ युवक, और दुःखी के साथ दुःखी के समान दिखाई देते हैं। कोई भाषण करे तो पुण्य कथाएं कहते हैं और दैन्य से अपना हृदय कलुषित नहीं होने देते ॥ ६५-६६ ॥ धीरबुद्धि, आनन्दमय, चतुर, पावनचरित्र, प्राज्ञ, प्रसन्न, मधुर, अपनी प्रतिभा के उदय के समय पूर्ण, खेद और दुर्गति से रहित, सबके प्रियबन्धु, उदारचारित्र और उदाराकार, समभाववान्, सौम्य, सुख के सागर, स्निग्ध, शीतल स्पर्शवान् और षोडशकलामय पूर्णचन्द्रमा के समान प्रकाशमान होते हैं। उन्हें न तो सुकृत से प्रयोजन है, न भोग से, न कर्मों से, न दुष्कृतों से, न भोगों के त्याग से, न बान्धवों से, न कार्यकारणों के आरम्भों से, न उनकी निष्कृति से ॥ ६७-७० ॥

न बन्धेन न मोक्षेण न पातालेन नो दिवा ।
यथा वस्तु यथा दृष्टं जगदेकमयात्मकम् ॥ ७१ ॥
तदा बन्धविमोक्षाभ्यां न किञ्चित्कृपणं मनः ।
सम्यक् ज्ञानाऽग्निना यस्य दग्धाः सन्देहजालिकाः ॥ ७२ ॥
निःशङ्कमलमुड्डीनस्तस्य चित्तविहङ्गमः ।
स तिष्ठन्नपि कार्य्येषु देशकालक्रियाक्रमैः ॥ ७३ ॥
न कार्य्यसुखदुःखाभ्यां मनागपि हि गृह्यते ।
वहिः प्रकृतसर्व्वार्थोऽप्यन्तः पुनरनीहया ॥ ७४ ॥
न सत्तां योजयत्यर्थे न फलान्यनुधावति ।
नोपेक्षते दुःखदशां न सुखाशामपेक्षते ॥ ७५ ॥
कार्योदये नैति मुदं कार्य्यनाशे न खिद्यते ।
आमूलान्मनसि क्षीणे सङ्कल्पस्य कथा च का ॥ ७६ ॥
तिलेष्विवाऽग्निदग्धेषु तैलस्य कलना कुतः ।
न त्यजन्ति न वाञ्छन्ति व्यवहारं जगद्गतम् ॥ ७७ ॥

न बन्ध से, न मोक्ष से, न पाताल से, न स्वर्ग से ही प्रयोजन है। जो कुछ वस्तु जगत् में जैसी कुछ देख पड़ती है वह अद्वैतभाव में ही वे देखते हैं ॥ ७१ ॥ तब बन्ध मोक्ष से उनका मन क्षुद्रता को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि ज्ञानाग्नि से उनके सन्देहजाल जल जाते हैं ॥७२॥ उनका निर्मल चित्तरूपी पक्षी निःशङ्कभाव से उड़ता है। देश, काल, क्रिया के क्रम से कार्यों में लगे रहने पर भी वे उन कार्यों के सुख दुःखों से लवमात्र सम्बन्धयुक्त नहीं होते। बाहरी स्वाभाविक सभी काम करते रहने पर भी अन्तःकरण में वासना न रहने से उनकी सत्ताका किसी विषय से न संयोग ही रहता है और न उनके चित्त में किसी फल की ही आकांक्षा रहती है। न वे दुःख दशा की उपेक्षा करते हैं, न सुख दशाओं की अपेक्षा ही रखते हैं ॥७३–७५॥ कार्य का उदय होनेपर वे प्रसन्न नहीं होते और बिगड़ने पर खेद नहीं करते। क्योंकि जिनका आमूल मन ही नष्ट हो गया है, फिर सङ्कल्प की क्या कथा है॥७६॥ अग्नि में जले हुए तिल में फिर तेल कैसे निकलेगा? वे जगत् के व्यवहारों को न छोड़ते हैं, न उनकी इच्छा ही करते हैं॥७७॥

सर्वमेवानुवर्त्तन्ते पारावारविदो जनाः।
शून्येऽपि न खिद्यन्ते देवोद्याने न सङ्गिनः॥ ७८॥
नियतिञ्च न मुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव।
विहरन्नपि संसारे जीवन्मुक्तमना मुनिः॥ ७९॥
आदिमध्यान्तविरसो विहसेज्जागतीर्गतिः।
रुदतो हसतश्चैव जीवन्मुक्तमतेरिह॥ ८०॥
न दुःखं न सुखं किञ्चिदन्तर्भवति न स्थितम्।
वीतरागाः सरागाभा अकोपाः कोपसंयुताः॥ ८१॥
अमोहा मोहवलिता दृश्यन्ते तत्त्वदर्शिनः।
इदं सुखमिदं दुःखमित्यादि कलनास्तु ताः॥ ८२॥
अलं दूरगतास्तेषां अङ्कुरा नभसो यथा।
यस्य स्थिता भवेद प्रज्ञा यस्यानन्दो निरन्तरः॥ ८३॥
प्रपञ्चोऽपि स्मृतप्रायः स जीवन्मुक्त इष्यते।
लीनधीरपि जागर्ति यो जाग्रद्धर्म्मवर्जितः॥ ८४॥

इस प्रकार के पारावारवेत्ता योगी सब कुछ आचरण करते हैं। शून्य में रहने से उन्हें न खेद होता है और न देवताओं के उद्यान में ही उनकी प्रीति है॥ ७८॥ जीवन्मुक्त चित्तवाले मुनि संसार में सञ्चार करने पर भी महान् सूर्यनारायण की तरह नियतिका उल्लङ्घन नहीं करते॥ ७९॥ आदि, मध्य और अन्त में विरस होकर जगत् की गति को देख वे हँसते हैं। चाहे जीवन्मुक्त पुरुष हँसे या रोदन करें, उसके अन्तर में किसी प्रकार का सुख दुःख स्थिर नहीं रहता। तत्त्वदर्शीलोग वीतराग होकर अनुरक्त की तरह, अक्रोध होकर क्रोधयुक्त की तरह, मोहरहित होकर मोहित की तरह देख पड़ते हैं। जैसे आकाश के अंकुर असम्भव होते हैं, वैसे यह सुख है, यह दुःख है, यह भावना उनकी नष्ट हो जाती है।* जो स्थित प्रज्ञ और निरन्तर आनन्द मग्न हैं, और जिनकी स्मृति में प्रपञ्च की छाया कभी कभी आती है वे जीवन्मुक्त कहे जाते हैं। जो जागृत धर्म से रहित हैं और जिनकी बुद्धि लीन होने पर भी सदा जागृत है। जिन

---

* ये सब पूर्वकथित लक्षण समूह ईशकोटि के जीवन्मुक्त के समझे जायँ।

वोधो निर्वासनो यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ।
वर्तमानेऽपि देहेऽस्मिञ्छायावदनुवर्त्तिनि ॥ ८५ ॥
अहंताममताभावो जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।
न प्रत्यग्ब्रह्मणा भेदः कदापि ब्रह्मसर्गयोः ॥ ८६ ॥
प्रज्ञया यो विजानाति स जीवन्मुक्तलक्षणः ।
जीवः शिवः सर्व एव भूतेष्वेवं व्यवस्थितः ॥ ८७ ॥
एवमेवाभिपश्यन्ति जीवन्मुक्तः स उच्यते ।
अतीताऽननुसन्धानं भविष्यदविचारणम् ॥ ८८ ॥
औदासीन्यमपि प्राप्तं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।
साक्षाद्ब्रह्मस्वरूपास्ते जीवन्मुक्ताः सदेदृशाः ॥ ८९ ॥
मूर्तिमद्ब्रह्मरूपा हि सत्यमेतद्ब्रवीम्यहम् ॥ ९० ॥

इति श्रीसन्न्यासगीतायां परमहंसधर्म्मनिरूपणं नाम
दशमोऽध्यायः ॥

का ज्ञान वासना रहित है उन्हें जीवन्मुक्त कहते हैं। उनका देह छाया की तरह उनके साथ रहने पर भी उनमें अहङ्कार और ममता का अभाव हो जाना ही जीवन्मुक्त का लक्षण है। प्रत्यग्ब्रह्म के साथ ब्रह्म और सृष्टि का जो अभेद है, उसको जो प्रज्ञा से जानता है उसे जीवन्मुक्त लक्षण से युक्त जानना चाहिये। सब जीव ब्रह्मरूप हैं और ब्रह्म सब भूतों में व्याप्त है यह जो देखते हैं, वे जीवन्मुक्त कहे जाते हैं। अतीत का अनुसन्धान न करना, भविष्यत् का विचार न करना और वर्तमान में उदासीन रहना जीवन्मुक्त का लक्षण है। * यह मैं सत्य कहता हूं कि इस प्रकार के उत्तम जीवन्मुक्त साक्षात् ब्रह्मरूप और मूर्तिमान् ब्रह्मस्वरूप होते हैं ॥ ८०–९० ॥

इस प्रकार श्रीसन्न्यासगीता का परमहंसधर्मनिरूपण नामक
दशम अध्याय समाप्त हुआ ॥

---

* ये पूर्व कथित सब लक्षण दोनों प्रकार के जीवन्मुक्तों में पाये जाते हैं।

शुक उवाच।

प्रभो! परमहंसानामादर्श! विश्वपूजित।
जगद्गुरो! हे सर्वज्ञ! सर्व्वधीरत्नवारिधे॥ १॥
श्रृण्मः परमहंसस्य रूपं स्म लक्षणानि च।
ब्रह्मकोटीशकोट्योश्च जीवन्मुक्तस्य तत्वतः॥ २॥
पृथक् पृथक् लक्षणानि ज्ञातव्यानि विशेषतः।
प्रसादादेव भवतो जानीमो वयमाश्रिताः॥ ३॥
योगीनामारुरुक्षूणां साधनायां कलौ युगे।
कीदृक् लक्ष्यं विधेयं तत् स्फुटं विज्ञापय प्रभो॥ ४॥
त्वयैवाऽभिहितं पूर्वं कलिकालो दुरत्ययः।
सन्न्यासिनोऽपि नो यान्ति निष्कृतिं कालधर्मतः॥ ५॥
सन्न्यासिनः कृतार्थाः स्युर्यया धारणया कलौ।
सम्यक्तदुपदेशेन कृतार्थान् कुरु नो गुरो॥ ६॥

याज्ञवल्क्य उवाच।

सन्न्यासिनां द्वे अवस्थे भेदात् प्रकृतिलक्ष्ययोः।
यथा विविदिषाविद्वत्सन्न्यासाविति साधकाः॥ ७॥

श्रीशुकदेवजी बोलेः–हे परमहंसों के आदर्श स्वरूप प्रभो! हे विश्वपूजित! हे जगद्गुरो! हे सर्वज्ञ! हे समस्त बुद्धिरूपी रत्नों के सागर, परमहंसों के रूप और लक्षणों को हमने सुन लिया है। अब ब्रह्मकोटी और ईशकोटी के जीवन्मुक्तों के पृथक् पृथक् लक्षणों को विशेष निश्चित रूप से जान लेने की इच्छा है। हम आप के आश्रित हैं, आपके प्रसाद से हम जान लेंगे॥ १–३॥ हे प्रभो! योगमार्ग में आरोहण करने की इच्छा करनेवाले योगियों के साधनों का कलियुग में कैसा लक्ष्य होना चाहिये सो स्पष्टतया कहिये॥ ४॥ आपने ही पहिले कहा है कि कलिकाल बड़ा कठिन है। सन्न्यासीगण की भी कालधर्म से निष्कृति नहीं होगी॥ ५॥ जिसकी धारणा से कलियुग में सन्न्यासी गण कृतकृत्य हों, ऐसा उत्तम उपदेश देकर हे गुरो! आप हमें कृतार्थ करें॥ ६॥

महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहाः–हे साधकगण! सन्न्यासियों की

द्विविधस्यास्य भेदस्य वस्तुतो मूलकारणम् ।
ज्ञानानां तारतम्यं स्यादत्रमानमृषिस्मृतिः ॥ ८ ॥
सन्न्यासिनोऽन्तःकरणे यावज्ज्ञानं विकाशते ।
दृढं दृश्येषु वैराग्यं तावदेव प्रजायते ॥ ९ ॥
यावद् विषयवैराग्यमेधते योगिनां हृदि ।
उदेति तावदेवाऽत्र योगसिद्धिरनाविला ॥ १० ॥
विद्वत्सन्न्यासतः पूर्व्वं शुभा विविदिषा ध्रुवा ।
आयातीत्येष नियमः क्वचिद् व्यभिचरत्त्यपि ॥ ११ ॥
कदाचित्साधकः कश्चित् पूर्वसंस्कारतः क्वचित् ।
प्रागेव विद्वत्सन्न्यासमासाद्यैति कृतार्थताम् ॥ १२ ॥
यथा प्रारब्धकर्माणि जात्यादीन् जनयन्ति हि ।
धारणामप्यत्र तद्वज्ज्ञानलाभोपयोगिनीम् ॥ १३ ॥
प्रधानधारणाकर्म्मण्यधिकारित्त्वमागताः ।
कर्त्तुं स्वरूपोपालब्धिं शक्नुवन्त्यविलम्बितम् ॥ १४ ॥

प्रकृति और लक्ष्य के भेद से दो अवस्थाएँ होती हैं। यथाः—विविदिषा सन्न्यासअवस्था और विद्वत्सन्न्यासअवस्था ॥ ७ ॥ ऋषि और स्मृतियों के मत से इस प्रकार के द्विविध भेदों का मूल कारण ज्ञान का तारतम्य ही है ॥ ८ ॥ सन्न्यासियों के अन्तःकरण में जब ज्ञान का विकाश होता है, तभी उनमें दृश्य पदार्थों से दृढ़ वैराग्य उत्पन्न होता है ॥ ९ ॥ जब योगियों के हृदय में विषय वैराग्य बढ़ता है, तभी उनमें निर्मल योगसिद्धि का उदय होता है ॥ १० ॥ विद्वत्सन्न्यास के पहिले विविदिषा सन्न्यास श्रेयस्कर है। यही नियम चला आता है, किन्तु कहीं कहीं अन्यथा भी होता है। कभी कोई साधक पूर्वजन्म के संस्कार से विविदिषा सन्न्यास के पहिले ही विद्वत्सन्न्यास ग्रहण कर कृतार्थ हो जाता है ॥ ११-१२ ॥ जिस प्रकार प्रारब्ध कर्म जाति आदि उत्पन्न करते हैं, उस प्रकार ज्ञान लाभ के उपयोगी धारणा को भी उत्पन्न करते हैं ॥ १३ ॥ प्रकृतिधारणा में अधिकार प्राप्त करके शीघ्र ही योगी स्व-स्वरूप की उपलब्धि करने में समर्थ हो जाते हैं ॥ १४ ॥

सतः समुचितात् केन्द्रान्नूनं भगवदिङ्गितैः।
स कर्त्तुं भगवत्कार्यं प्रभवत्यनुपद्रवम् ॥ ३७ ॥
एतादृगेव परमहंसादर्शो जगद्गुरुः।
जीवन्मुक्तो हि सर्वेषां कल्याणं कर्त्तुमर्हति ॥ ३८ ॥
सन्न्यासमिच्छतां काले योगिनां सावधानता।
विशेषतोपेक्षणीया यस्मात् कालो दुरत्ययः ॥ ३९ ॥
कुटीचको वा भवतु विद्यतां वा बहूदकः।
हंसोवास्तां हि परमोहंसोवास्तु विवेकवान् ॥ ४० ॥
विधाय दृष्टिं परमोपकारे तत्व इष्ट दे।
जगदेव परंब्रह्म ब्रह्मैव परमं जगत् ॥ ४१ ॥
इत्यस्य सम्यङ् मीमांसाद्वय सिद्धान्तमाश्रयन्।
सन्न्याससोपानततौ सर्व्वोह्यग्रसरो भवेत् ॥ ४२ ॥

विराट केन्द्र के द्वारा चालित होकर ऐसे महात्मा भगवान् के इङ्गित से अनायास भगवान् का कार्य करने में समर्थ होते हैं ॥ ३७ ॥ इस प्रकार का आदर्शपरमहंस, जगद्गुरु, जीवन्मुक्त पुरुष सबका कल्याण कर सकता है ॥ ३८ ॥ कलिकाल में सन्न्यास चाहनेवाले योगियों को विशेष सावधानता रखनी चाहिये। क्योंकि कलिकाल बड़ा कठिन है ॥ ३९ ॥ कुटीचक हो, बहूदक हो, हंस हो या विवेकवान् परमहंस ही क्यों न हो, सब को इष्टकारी परमोपकार के तत्त्व की ओर दृष्टि रखकर जगत् ही परमब्रह्म है और परमब्रह्म ही जगत् है इन दोनों की मीमांसाओं के सिद्धान्तों का आश्रय कर सन्न्यास मार्ग में अग्रसर होना चाहिये * ॥ ४०–४२ ॥

---

* विविदिषा और विद्वत् सन्न्यास इन दोनों भेदों तथा ब्रह्मनिष्ठ और आत्मनिष्ठ इन दोनों दशाओं के सम्बन्ध के साथ ब्रह्मकोटि के जीवन्मुक्त और ईशकोटि के जीवन्मुक्तों के अधिकार का सम्बन्ध दिखाते हुए इस ग्रन्थ में यह सिद्ध किया गया है कि कलिकाल के कराल आक्रमण से बचने के लिये परमोपकार व्रत का धारण करते हुए सन्न्यासियों को ईशकोटि की जीवन्मुक्त अवस्था पर ही लक्ष्य रखना चाहिये।

निवृत्तिधर्माज्जीवानां यत्परं घटते पदम् ।
भावशुद्धप्रवृत्त्युत्थधर्मतोऽप्यन्त एव तत् ॥ २३ ॥
अस्यभेदद्वयस्यैतत्कारणं मूल मीक्ष्यते ।
ब्रह्मनिष्ठाऽऽत्मनिष्ठत्वदशा भवति संस्कृतेः ॥ २४ ॥
स्वार्थश्च परमार्थश्च परोपकार इत्यपि ।
चतुर्विधाऽस्ति परमोपकार इति वासना ॥ २५ ॥
ऐहिकाऽभ्युदयस्तत्र स्वार्थो विद्वद्भिरुच्यते ।
स्वीयाऽऽमुष्मिक कल्याणं परमार्थः प्रकीर्तितः ॥ २६ ॥
अपरैहिक कल्याणं परोपकार उच्यते ।
अपराऽऽमुष्मिकाशिवं सकलान्तस्य लक्षणम् ॥ २७ ॥
स्वार्थः परोपकारश्च जीवानां लक्ष्यतामितः ।
परमार्थश्च परमोपकारश्चोच्चयोगिनाम् ॥ २८ ॥
सन्न्यासिनस्त एवाऽत्र केचनैव निरामयम् ।
स्वमोक्षमेवाप्नुवन्तो यान्त्येव कृतकृत्यताम् ॥ २९ ॥

और वासना का क्षय ये तीनों एक साथ ही उत्पन्न होते हैं ॥ २२ ॥ जीवों को निवृत्ति धर्म से जो परम पद प्राप्त होता है, भावशुद्धि युक्त प्रवृत्ति धर्म से भी अन्त में वही पद प्राप्त होता है ॥ २३ ॥ संस्कार हेतुक ब्रह्मनिष्ठ और आत्मनिष्ठ नामक जो दशाएँ ऊपर कही गई हैं, उल्लिखित भेदद्वय ही अर्थात् निवृत्ति धर्म और भावशुद्धि युक्त प्रवृत्ति धर्म ही इनका मूल कारण है ॥ २४ ॥ वासनाएँ चार प्रकार की होती हैं। यथाः-स्वार्थ, परमार्थ, परोपकार और परमोपकार ॥ २५ ॥ जिससे ऐहिक अभ्युदय हो, उसे विद्वान् गण स्वार्थ कहते हैं। अपने पारलौकिक कल्याण का नाम परमार्थ है। दूसरों के ऐहिक कल्याण को परोपकार और दूसरों के पारत्रिक कल्याण को परमोपकार कहते हैं। स्वार्थ और परोपकार साधारण जीवों का लक्ष्य तथा परमार्थ और परमोपकार उच्च श्रेणी के योगियों का लक्ष्य होता है ॥ २६-२८ ॥ कोई कोई सन्न्यासी केवल अपना ही मोक्ष साधन करके

अन्येऽधिकारिणः केचित् आत्मनो जगतासमम् ।
संस्थाप्यैकत्व सम्बन्धं यतन्ते सर्व्वमुक्तये ॥ ३० ॥
ब्रह्मकोटिर्यदाप्नोति पदं सुखमनामयम् ।
यदीशकोटिर्लभते तदेकमेव यद्यपि ॥ ३१ ॥
तथापि भेद आद्येन परोक्षं जगतो हितम् ।
अन्त्येन जीवन्मुक्तेन साक्षाद् भवति मङ्गलम् ॥ ३२ ॥
न विश्वं लभते किञ्चित् प्रत्यक्षं फलमादितः ।
भाविकालाश्रयाद्यस्मात्तत्कर्म विश्वभद्रकृत् ॥ ३३ ॥
जीवन्मुक्त ईशकोटिः पूर्वस्मादेव वस्तुतः ।
परमोपकारतत्त्वाधिकारित्वं समाश्रयन् ॥ ३४ ॥
जगद्गुरुत्वमापन्नोऽध्यात्मज्ञानं प्रचारयन् ।
विश्वप्रभूतकल्याणं जनयत्यविलम्बितम् ॥ ३५ ॥
तत्कर्माण्यपि साधूनि कालमाश्रित्य भाविनि ।
भुवने कालसर्गस्य कारणानि भवन्त्यलम् ॥ ३६ ॥

बाधा रहित होकर कृतकृत्य हो जाते हैं ॥२९॥ और दूसरे अधिकारी गण अपना जगत के साथ एकत्व सम्बन्ध स्थापन कर सभी के मुक्ति की चेष्टा करते हैं ॥ ३० ॥ ब्रह्म कोटी के जीवन्मुक्त पुरुष जो अनामय पद अनायास प्राप्त करते हैं एवम् जो पद ईशकोटी के जीवन्मुक्तों को प्राप्त होता है.वे दोनों पद यद्यपि एक ही हैं तथापि दोनों में भेद यह है कि ब्रह्मकोटी के जीवन्मुक्त से जगत् का परोक्ष रूप से हित होता है और ईशकोटी के जीवन्मुक्तों से जगत् का प्रत्यक्ष मङ्गल होता है ॥ ३१-३२ ॥ ब्रह्मकोटी के जीवन्मुक्त से संसार को प्रत्यक्ष कोई लाभ नहीं है । क्योंकि उसका कर्म भविष्यत् काल का आश्रय करके विश्व का मङ्गल करता है ॥ ३३ ॥ ईशकोटी का जीवन्मुक्त पहिले से ही परमोपकार के तत्त्व की अधिकारिता का आश्रय कर जगद्गुरुत्व को प्राप्त करके अध्यात्मज्ञान का प्रचार करते हुए संसार का परम कल्याण विना विलम्ब किये साधन करता है। ३४-३५ उस ईशकोटि के जीवन्मुक्त पुरुष के कर्मसमूह काल का आश्रय करके भावी संसार के लिये काल सृष्टि के कारण हो जाते हैं ॥३६॥

सतः समुचिताद् केन्द्रान्नूनं भगवदिङ्गितैः।
स कर्त्तुं भगवत्कार्यं प्रभवत्यनुपद्रवम् ॥ ३७ ॥
एतादृगेव परमहंसादर्शो जगद्गुरुः।
जीवन्मुक्तो हि सर्वेषां कल्याणं कर्तुमर्हति ॥ ३८ ॥
सन्न्यासमिच्छतां काले योगिनां सावधानता।
विशेषतोपेक्षणीया यस्माद् कालो दुरत्ययः ॥ ३९ ॥
कुटीचको वा भवतु विद्यतां वा बहूदकः।
हंसोवास्तां हि परमोहंसोवास्तु विवेकवान् ॥ ४० ॥
विधाय दृष्टिं परमोपकारे तत्त्व इष्ट दे।
जगदेव परंब्रह्म ब्रह्मैव परमं जगत् ॥ ४१ ॥
इत्यस्य सम्यङ् मीमांसाद्वय सिद्धान्तमाश्रयन्।
सन्न्याससोपानततौ सर्व्वोह्यग्रसरो भवेद् ॥ ४२ ॥

विराट केन्द्र के द्वारा चालित होकर ऐसे महात्मा भगवान् के इङ्गित से अनायास भगवान् का कार्य करने में समर्थ होते हैं ॥ ३७ ॥ इस प्रकार का आदर्शपरमहंस, जगद्गुरु, जीवन्मुक्त पुरुष सबका कल्याण कर सकता है ॥ ३८ ॥ कलिकाल में सन्न्यास चाहनेवाले योगियों को विशेष सावधानता रखनी चाहिये। क्योंकि कलिकाल बड़ा कठिन है ॥ ३९ ॥ कुटीचक हो, बहूदक हो, हंस हो या विवेकवान् परमहंस ही क्यों न हो, सब को इष्टकारी परमोपकार के तत्त्व की ओर दृष्टि रखकर जगत् ही परमब्रह्म है और परमब्रह्म ही जगत् है इन दोनों की मीमांसाओं के सिद्धान्तों का आश्रय कर सन्न्यास मार्ग में अग्रसर होना चाहिये * ॥ ४०–४२ ॥

---

* विविदिषा और विद्वत् सन्न्यास इन दोनों भेदों तथा ब्रह्मनिष्ठ और आत्मनिष्ठ इन दोनों दशाओं के सम्बन्ध के साथ ब्रह्मकोटी के जीवन्मुक्त और ईशकोटी के जीवन्मुक्तों के अधिकार का सम्बन्ध दिखाते हुए इस ग्रन्थ में यह सिद्ध किया गया है कि कलिकाल के कराल आक्रमण से बचने के लिये परमोपकार व्रत का धारण करते हुए सन्न्यासियों को ईशकोटि की जीवन्मुक्त अवस्था पर ही लक्ष्य रखना चाहिये।

सत्कर्मोपासनाज्ञानमेवद् यज्ञत्रयं क्रमात् ।
त्रिविधानां हि शुद्धीनां कारणं कीर्तितं परम् ॥ ४३ ॥
अधिभूतं कर्मयज्ञात् शुद्धिं समधिगच्छति ।
पूर्णाहुतिर्भवत्यस्य निष्कामकर्मयोगतः ॥ ४४ ॥
अधिदैवविशुद्धिः स्यादुपास्तियज्ञयोगतः ।
पूर्णाहुतिः पराभक्त्याद्वैतभावसंयुजापि ॥ ४५ ॥
अध्यात्मशुद्धिः सर्व्वेषां भवति ज्ञानयज्ञतः ।
अहं ब्रह्मास्मीति चिन्तासिद्धावेवाऽस्य पूर्णता ॥ ४६ ॥
यथाधिकारमेते हि साधयन्तो न योगतः ।
विच्युताः स्युः कदापीहाऽन्यथाभावेऽन्यथा भवेत् ॥ ४७ ॥
सिद्धान्तानारुरुक्षूणां एतान्निश्चित्य यत्नतः ।
ईशकोटिकमुक्तानामादर्शं परिचिन्तयन् ॥ ४८ ॥
निष्कामकर्मयोगात्मपरकर्मपरां गतिम् ।
पराभक्तिं परज्ञानमाश्रयन् मानवः स्वयम् ॥ ४९ ॥

उत्तम कर्म, उपासना और ज्ञान ये तीन यज्ञ क्रमशः त्रिविध शुद्धि के परम कारणस्वरूप हैं ॥ ४३ ॥ कर्मयज्ञ से अधिभूतशुद्धि प्राप्त होती है। इसकी पूर्णाहुति निष्कामकर्मयोग से होती है॥ ४४॥ उपासनायज्ञ से अधिदैव शुद्धि होती है। इसकी पूर्णाहुति अद्वैतभाव युक्त पराभक्ति से होती है ॥ ४५ ॥ सब की अध्यात्मशुद्धि ज्ञानयज्ञ से होती है। इसकी पूर्णता 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार की चिन्ता की सिद्धि से होती है ॥४६॥ यथाधिकार इन यज्ञों की साधना करने से साधक कभी योग से च्युत नहीं होगा, परन्तु अन्यथा होने से च्युति अनिवार्य है॥४७॥*योगारूढ़ों के इन सिद्धान्तों का यत्न के साथ निश्चय कर, ईशकोटी के जीवन्मुक्तों को आदर्श मान कर, निष्काम कर्मयोग,

---

* सन्न्यासी को भी अपने अपने अधिकारानुसार कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ और ज्ञानयज्ञ से पराङ्मुख नहीं होना चाहिये। उनको छोड़ने से अवनति की सम्भावना है। इसी कारण प्रस्थानत्रय का विधान है। कर्मयज्ञ की मीमांसा भगवद्गीता से, उपासना यज्ञ की मीमांसा उपनिषदों से और ज्ञानयज्ञ की मीमांसा ब्रह्मसूत्र से होने के कारण प्रस्थानत्रय विहित है।

सम्यक् कृतार्थतामाप्तं जगन्त्यपि कृतार्थतां ।
नूनं गमयितुं सम्यक् शक्नोत्यत्र न संशयः ॥ ५० ॥
कलिकालप्रभावेण सन्न्यासिष्वपि सुव्रताः ।
बहवः सम्प्रदायाः स्युर्लिङ्गान्यपि च भूरिशः ॥ ५१ ॥
द्वैतभेदनिरासायाऽद्वैतभेदस्य सिद्धये ।
यः सन्न्यासाश्रमः प्रोक्तस्तत्राऽज्ञानप्रभावतः ॥ ५२ ॥
मतभेदो लिङ्गभेदोऽहङ्कारस्य भिदा तथा ।
आचारस्यापि भेदश्च भविष्यति कलौ ध्रुवम् ॥ ५३ ॥
प्रकृतिः कारणं तस्य माया या विश्वमोहिनी ।
कलौ सन्न्यासभेदा ये तेषां चक्रे पतिष्यताम् ॥ ५४ ॥
भाविन्यधोगतिर्विप्रा भवचक्रे विघूर्णिनी ।
आध्यात्मिकोन्नतिं तद्वत् लब्ध्वा ज्ञानस्य पूर्णताम् ॥ ५५ ॥
पदञ्चाभयमव्यग्रं य इच्छेन्नियतात्मवान् ।
नपतेदीदृशे सोऽसावविद्यापाशबन्धने ॥ ५६ ॥

आत्मपर कर्म, परागति, पराभक्ति और परज्ञान का आश्रय कर मनुष्य स्वयम् उत्तम रीति से कृतार्थ होता हुआ जगत् को भी कृतार्थ कर सकता है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है ॥ ४८-५० ॥ हे सुव्रतो ! कलिकाल के माहात्म्य से सन्न्यासियों में भी अनेक सम्प्रदाय और लिङ्ग होंगे ॥ ५१ ॥ परन्तु जो सन्न्यासाश्रम द्वैतभेद को निर्मूल करने-अद्वैतभाव की सिद्धि करने के लिये है, उसमें मतभेद अहङ्कारभेद, लिङ्गभेद और आचारभेद ये सब कलि में केवल अज्ञान के कारण होंगे ॥ ५२-५३ ॥ और वह अज्ञान विश्वमोहिनी माया के कारण होगा । कलियुग में सन्न्यासाश्रम के जो अनेक भेद होंगे, उनके चक्र में जो पड़ेगा, हे विप्रो ! उसकी निःसन्देह अधोगति होगी । अतः आध्यात्मिकउन्नति की इच्छा करनेवाले और ज्ञान की पूर्णता प्राप्त करके अभय पद की आकांक्षा करनेवाले नियतात्मा पुरुष को कदापि ऐसे अविद्यापाश में बध्द नहीं होना चाहिये ॥ ५४-५६॥

सन्न्यासाश्रममप्येत्य मुमुक्षुर्यदि सम्पतेत्।
उक्तेऽविद्याचक्रचक्रे तदा कष्टा वहिर्गतिः॥ ५७॥
सन्न्यासचक्रतो घोरात् सत्यं सत्यं ब्रवीम्यहम्।
मे वचने पूर्णं विश्वस्तव्यमलं सदा॥ ५८॥
जीवन्मुक्तपदं तद्वन्न्यासिनश्च जगद्गुरोः।
पदं प्राप्तुमपेक्ष्येत क्रमन्यासो ध्रुवं ध्रुवं॥ ५९॥
चतुर्धा संविभक्तोऽसौ पूर्वमुक्तोत्र विस्तरात्।
स्वाभाविकास्ते चत्वारो विभागाः सम्प्रकीर्त्तिताः॥ ६०॥
यथा प्राकृतिका वर्णाश्रमाद्याः खलु सर्वथा।
तेषामेवाश्रयः श्रेयान्तत्त्वविद्भिरुदीरितः॥ ६१॥
महर्षयोऽतिदुर्ज्ञेयं स्वरूपं कर्मब्रह्मणः।
कर्मज्ञैर्योगिभिः कर्म विराड्रूपं त्रिधा स्मृतम्॥ ६२॥
सहजं जैवमैशं च भावत्रयविभेदतः।
ब्रह्माण्डस्य हि संस्कारसमष्ट्या यस्य यस्य च॥ ६३॥
सम्बन्धः कर्मणस्तिष्ठेत् सहजं कर्म तन्मतम्।
जङ्गमस्थावरसृष्टेर्मूलं कर्मैतदीरितम्॥ ६४॥

यदि सन्न्यासाश्रम ग्रहण करके भी उक्त अविद्या चक्र में मुमुक्षु पड़ेगा तो उसको उस प्रबल मायाचक्र से बाहर निकलना कठिन हो जायगा॥ ५७॥ मैं यह सत्य सत्य कहता हूं। मेरे वचन पर आप लोग पूर्ण विश्वास करें॥ ५८॥ जगद्गुरु सन्न्यासी पद और जीवन्मुक्त पद प्राप्त करने के लिये क्रमसन्न्यास अत्यन्त आवश्यक है। क्रम सन्न्यास चार प्रकार का होता है, सो मैं पहिले विस्तार के साथ कह चुका हूं। ये चारों विभाग स्वाभाविक कहे गये हैं॥ ५९-६०॥ जैसे कि तत्त्ववेत्ताओं के कहे हुए वर्णाश्रमादि-विभाग प्राकृतिक हैं। उनका आश्रय करना सर्वथा श्रेयस्कर है॥६१॥ हे महर्षिगण! कर्मब्रह्म का स्वरूप अतिदुर्ज्ञेय है। कर्मज्ञ योगियों ने कर्म के विराट् स्वरूप को तीन भावों में विभक्त किया है, यथाः- सहज, जैव और ऐश। ब्रह्माण्ड के समष्टि संस्कार से जिन जिन कर्मों का सम्बन्ध हो उनको सहज कर्म कहते हैं। स्थावर और

असङ्ख्या देवनिचयाश्चालका अस्य कर्मणः ।
परिणामःस्थावरेषु क्रमान्मर्त्येतरेषु हि ॥ ६५ ॥
जङ्गमेषु च जीवेषु या क्रमोन्नतिरीदृशी ।
जायते कारणं तत्र प्रभावो ह्यस्य कर्मणः ॥ ६६ ॥
पिण्डसम्बन्धि यत्कर्म मनुष्यैर्व्यष्टिरूपतः ।
कृतं सद्भिस्तत्त्वविद्भिर्जैवं कर्म तदुच्यते ॥ ६७ ॥
नरादयः स्वतन्त्रा वै जीवा एतस्य कर्मणः ।
निरन्तरं सर्वथैव भवन्ति फलभोगिनः ॥ ६८ ॥
कुर्वन्ति जीवन्मुक्ता यदैशं कर्म तदुच्यते ।
जीवन्मुक्तः कार्यभूमिरीश्वरेच्छा तु कारणम् ॥ ६९ ॥
ततः कर्म भवेदैशमीशकोटिकमुक्ततः ।
ईश्वराधीनमेवैतज्जगत्कल्याणहेतवे ॥ ७० ॥
ईशकोटिकमुक्तानां सञ्चितक्रियमाणके ।
कर्मणी बन्धनेऽनीशे स्वकर्तुस्सर्वथैव हि ॥ ७१ ॥

जङ्गम सृष्टि का मूलभूत यही कर्म कहा गया है ॥ ६२–६४ ॥ असङ्ख्य देवतागण इस कर्म के सञ्चालक होते हैं । स्थावर में जो क्रम परिणाम और मनुष्येतर उद्भिज्ज स्वेदज आदि जङ्गम जीवों में जो क्रमोन्नति होती है, इस सहज कर्म का प्रभाव ही उसका कारण है ॥ ६५–६६ ॥ पिण्ड के साथ सम्बन्ध युक्त और व्यष्टिरूप से मनुष्यों के द्वारा किये हुए कर्मों को तत्त्वदर्शी सज्जनों ने जैवकर्म कहा है ॥ ६७ ॥ इन कर्मों के सर्वथा फलभोगी मनुष्यादि जीव हैं जो कर्म करने में स्वतन्त्र हैं ॥ ६८ ॥ और जीवन्मुक्तों के किये हुए कर्मों को ऐश कर्म कहते हैं । जीवन्मुक्त कार्यभूमि और ईश्वरेच्छा कारणभूमि होने से ईशकोटी के जीवन्मुक्तों द्वारा जो ऐश कर्म जगत्कल्याण के लिये होता है, सो ईश्वराधीन है ऐसा जानना चाहिये ॥ ६९-७० ॥ ईश कोटी के जीवन्मुक्तों के सञ्चित और क्रियमाण कर्म उस जीवन्मुक्त को बन्धन करने में सर्वथा असमर्थ होते हैं ॥ ७१ ॥

भविष्यत्कालजनने साहाय्यमधितिष्ठतः ।
जगतां जीवनायैव जीवन्मुक्तस्य जीवनम् ॥ ७२ ॥
जगत्पवित्रतासिद्ध्यै जीवन्मुक्तस्य कर्म वै ।
भगवन्महिमख्यातिप्रचाराय निरन्तरम् ॥ ७३ ॥
जीवन्मुक्तकृतोपास्तिः केवलं समुदीरिता ।
जीवन्मुक्तस्य यज्ज्ञानं तत्वज्ञानप्रचारतः ॥ ७४ ॥
जगज्जीवोद्धारणाय केवलं तत्प्रकीर्तितम् ।
अतएव महाभागा तीर्था अपि भवादृशाः ॥ ७५ ॥
जगत्पवित्रयन्तो हि तीर्थेऽटन्त्यनिशं स्वतः ।
महर्षयः सत्यमेव ब्रवीमि भवतां पुरः ॥ ७६ ॥
जीवन्मुक्ते ब्रह्मणि च न भेदः कोऽपि विद्यते ।
एतावानेव भेदोऽस्ति मूर्तिमद्ब्रह्म ते मताः ॥ ७७ ॥
तेषां कर्म ब्रह्मकर्म स्मर्यतैतदहर्निशम् ॥ ७८ ॥

इति श्रीसन्न्यासगीतायां जीवन्मुक्तविज्ञाननिरूपणं
नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अतः वे भविष्यत् काल को बनाने में सहायक हो रहते हैं। संसार के जीवन के लिये ही जीवन्मुक्त का जीवन होता है ॥७२॥ जगत् को पवित्र करने के लिये जीवन्मुक्त का कर्म होता है, जीवन्मुक्त की उपासना भगवन्महिमा के महत्व का प्रचार करने के लिये होती है और जीवन्मुक्त का ज्ञान केवल तत्वज्ञान विस्तार द्वारा जगत् के जीवों के उद्धार करने के लिये है। इसीसे आप जैसे स्वयंतीर्थस्वरूप महाभाग जगत् को पावन करते हुए अनेक तीर्थों में अखण्ड परिभ्रमण करते रहते हैं। हे महर्षिगण! आपलोगों से मैं सत्य कहता हूँ कि जीवन्मुक्त और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। भेद इतना ही है कि वे मूर्तिमान् ब्रह्म कहे गये हैं और उन का कर्म ब्रह्मकर्म है इसका स्मरण अहर्निश रखना चाहिये ॥ ७३ - ७८ ॥

इसप्रकार श्रीसन्न्यासगीता का जीवन्मुक्तविज्ञाननिरूपण नामक एकादश अध्याय समाप्त हुआ।

सर्व्वेऊचुः ।

ब्राह्मणानां गुरो ! सन्न्यासिनां तद्वच्छिरोमणे ।
जगद्गुरोऽद्य भवतः कृपया धन्यतामगात् ॥ १ ॥
इदं तीर्थं तथा सर्वे वयं धन्याः कृतास्त्वया ।
रहस्यं धर्म्मविज्ञानस्याऽतिदुर्ज्ञेयमद्भुतम् ॥ २ ॥
पुंसां साधारणो धर्म्मो धर्माङ्गस्य तथैव च ।
स्वरूपं तेऽनुकम्पातः श्रुत्त्वा पुलकिता वयं ॥ ३ ॥
प्रबलस्य कले रूपं करालं च विचित्रितम् ।
श्रुत्त्वाश्चर्यपराः सर्वे वयं जातास्तपोनिधे ॥ ४ ॥
ततोऽतिपुण्यरूपस्य त्रैलोक्यपावनस्य च ।
सन्न्यासधर्म्मस्य विभो ! रूपं श्रुत्त्वा पवित्रिताः ॥ ५ ॥
एवं कुटीचकादीनां चतुर्णां धर्ममुत्तमम् ।
विशेषं कृतकृत्याः स्म श्रुत्त्वा सर्व्वे वयं मुने ॥ ६ ॥
उपदिष्टं त्वया सर्वमिदं नौरेव कीर्तिता ।
कलिदुस्तरनद्या वै तरणे मुनिपुङ्गव ॥ ७ ॥

सब बोलेः-हे ब्राह्मणों के गुरु और सन्न्यासियों के शिरोमणि ! हे जगद्गुरु ! आज आप की कृपा से हम धन्यता को प्राप्त हुए ॥ १ ॥ हम सब को और इस तीर्थ को भी आपने धन्य किया । धर्म विज्ञान का अत्यन्त दुर्ज्ञेय और अद्भुत रहस्य, पुरुषों का साधारण धर्म और धर्माङ्ग का स्वरूप आपकी कृपा से सुनकर हम अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ २–३ ॥ हे तपोनिधे ! प्रबल कलि का विचित्र कराल रूप सुनकर हम बड़े आश्चर्यान्वित हुए । फिर अति पुण्यरूप, त्रैलोक्यपावन सन्न्यासधर्म का रूप सुनकर हे विभो ! हम पवित्र हुए ॥ ४–५ ॥ हे मुने ! इसी तरह कुटीचकादि चतुर्विध सन्न्यास के विशेष धर्म सुनकर हम कृतकृत्य हुए ॥६॥ हे मुनिश्रेष्ठ ! आपने यह उपदेश क्या किया, मानों कलिरूपी दुस्तर नदी को तरने के लिये नाव ही निर्माण कर दी ॥७॥

आत्मज्ञानं श्रावयास्मानधुना कृपया विभो ।
लक्ष्यस्थैर्यं यतोऽस्माकं संसाराब्धिं तराम च ॥ ८ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच ।

सर्वेषां दृश्यवस्तूनां त्रिधा दर्शनमस्ति यत् ।
आध्यात्मिकाधिदैवाधिभौतिकत्रयरूपतः ॥ ९ ॥
दृश्यकारणरूपाया मायाया वै गुणत्रये ।
दृष्टिः सततं विप्राः ! तत्वज्ञाने हि कारणम् ॥ १० ॥
अनादिसान्ता या माया शक्तिः सा परमात्मनः ।
परमात्मनि लीनायां तस्यामेव हि जायते ॥ ११ ॥
अद्वैतरूपज्ञानस्याविर्भूतिर्योगिनो हृदि ।
ब्रह्मणोऽभिन्नशक्तिस्तु ब्रह्मैव खलु नाऽपरा ॥ १२ ॥
तथा सति वृथा प्रोक्तं शक्तिरित्यविवेकिभिः ।
शक्तिशक्तिमतोर्विद्वन् ! भेदाभेदस्तु दुर्घटः ॥ १३ ॥

अब हे विभो ! कृपा करके हमें आत्मज्ञान सुनाइये, जिससे हमें लक्ष्यस्थैर्य प्राप्त होकर हम संसारसागर से तर जायंगे ॥ ८ ॥

महर्षि याज्ञवल्क्य बोले:-सभी दृश्य वस्तुओं का आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक रूप से त्रिविध दर्शन होता है ॥ ९ ॥ हे विप्रो ! दृश्य की कारणरूप जो माया है, उसके त्रिगुण में निरन्तरध्यान रखना ही तत्वज्ञान का कारण है * ॥ १० ॥ अनादि, सान्त जो माया है, वही परमात्मा की शक्ति है। उसके परमात्मा में लीन हो जाने पर योगियों के हृदय में अद्वैत रूप ज्ञान का आविर्भाव होता है। ब्रह्म से अभिन्न ब्रह्म शक्ति रूपिणी माया ब्रह्म ही है, कोई भिन्न वस्तु नहीं है। अतः अज्ञानी लोगों ने ही वृथा शक्ति को ब्रह्म से भिन्न कहा है। विद्वन् ! शक्ति और शक्तिमान् का भेदाभेद दुर्घट

---

* तत्वज्ञान का उदय यथार्थतः तब समझना चाहिये जब ज्ञानी व्यक्ति प्रत्येक पदार्थ में त्रिभाव का अनुसन्धान करे और प्रत्येक क्रिया में त्रिगुण का विचार रक्खे। इस प्रकार की विचार की धारणा स्थिर हो जाने पर आगे की कही हुई अद्वैत भाव युक्त आत्मज्ञान की दशा ज्ञानी को स्वतः ही प्राप्त हो जाती है।

सृष्टिर्मतैतज्जगतः शक्तिद्वारैव ब्रह्मणः ।
द्वैतमेतत्तथाऽद्वैतद्वैताऽद्वैतविवर्जितम् ॥ १४ ॥
यतो हि कारणब्रह्म भिन्नं न कार्यब्रह्मणा ।
इत्थं स्थितमिदं विश्वं सदसद्देवरूपि च ॥ १५ ॥
द्वैतैक्यपदनिर्मुक्तं युक्तं द्वैतैक्यमप्यतः ।
चितेः कलंकवैरूप्यमिति संसारतां गतम् ॥ १६ ॥
अकलंकमसंसारि तच्चाऽभिन्नाऽद्वयात्मकम् ।
इयमस्मीति सम्प्राप्तकलंका चिन्निवध्यते ॥ १७ ॥
एतामेव कलां बुध्वा स्वकाद्भिन्नां विमुच्यते ।
चिदर्थाकारताऽभावाद् द्वित्वाव सत्वं समुज्झति ॥ १८ ॥
सुखादि मिलितां धत्ते न सत्यां सादिति क्षणात् ।
शुद्धा निरंशा सत्या वाऽसत्या वेत्येवमादिभिः ॥ १९ ॥
विमुक्ता नामशब्दार्थैः सर्वैः सर्व्वात्मिकाऽपि खम् ।
सर्व्वं निरुपमं शान्तं मनसैतात्रिमार्गगम् ॥ २० ॥

है। जगत् की सृष्टि, शक्ति के द्वारा ही ब्रह्म से होती है। यही द्वैत है, यही अद्वैत है और यही द्वैताद्वैत से विवर्जित अवस्था है ॥ ११–१४ ॥ क्योंकि कारणब्रह्म कार्यब्रह्म से भिन्न वस्तु नहीं है। इस प्रकार से यह जगत् सद्सद्रूप से भासमान है ॥ १५ ॥ यह द्वैत से एकता युक्त भी है और द्वैत के साथ एकता से मुक्त भी है। प्रकृति के कलङ्क या छाया के द्वारा चित् की जो विरूपता है, वही संसार का कारण है। अद्वितीय परमात्मा निष्कलङ्क, असंसारी और सर्वथा एकरस है। मैं प्रकृति हूं इस प्रकार से कलङ्क प्राप्त करके चित् बन्धन में आता है। जब प्रकृति के समस्त भावों को अपने से पृथक् समझता है, तभी चित् की मुक्ति होती है। दृश्य और द्रष्टा की एकाकारता के अभाव से द्वैतमय जगत् की सत्ता उत्पन्न होती है। वही सत्ता सुख दुःख व मोहरूपी विकल्प के द्वारा असत् में सत् की भ्रान्ति उत्पन्न करती है। परन्तु ब्रह्म इन सब सदसद्रूपी विकल्पभाव से तथा नाम रूप से मुक्त, शुद्ध, पूर्ण, सर्वत्र एकरस, निरुपम, शान्त और आकाश की तरह सर्वत्र व्याप्त है। जब शुद्ध मन के द्वारा इन्द्रिय-

तन्त्वेदं बृंहितं ब्रह्म शक्त्याकाशविकासया।
मनसा मनसिच्छिन्ने स्वेन्द्रियावयवात्मनि ॥ २१ ॥
सत्या लोकाज्जगज्जाले प्रच्छन्ने विलयं गते।
छिन्ने जीर्णसंसारकलना कल्पनात्मिका ॥ २२ ॥
भ्रष्टबीजोपमा सत्ता जीवस्य इति नामिका।
पश्यन्ती नाम कलितोत्सृजन्ती चेत्य चर्वणाम् ॥ २३ ॥
मनोमोहाभ्रनिर्मुक्ता शरदाकाशकोशवत्।
शुद्धा चिद्भावमात्रस्था चेत्यचिच्चापलं गता ॥ २४ ॥
समस्तसामान्यवती भवतीर्णभवार्णवा।
अपुनर्भवसौपुप्तपदपाण्डित्यपीवरी ॥ २५ ॥
परमासाद्य विश्रान्ता विश्रान्ता वितते पदे।
एतत्त मनसि क्षीणे प्रथमं कथितं पदम् ॥ २६ ॥
द्वितीयं शृणु विप्रेन्द्र! शक्तेरस्याः सुपावनम्।
एपैव मनसोन्मुक्ता चिच्छक्तिः शान्तिशालिनी ॥ २७ ॥

परायण मलिन मन छिन्न होता है। तथा परमात्मा की सत्य प्रभा के द्वारा जगज्जाल प्रच्छन्न और विलीन होजाता है तब कल्पनारूपी संसार,कलना आमूल नाश को प्राप्त हो जाती है ॥ १५-२२ ॥ उस समय जीव की सत्ता भर्जित बीज की तरह होजाती है। वह सांसारिक विषयों को उस समय देखने पर भी उसमें आसक्ति शून्य हो जाती है और मनोमोहरूप मेघजाल से निर्मुक्त होकर शरत्कालीन आकाश की तरह अवस्थान करती है। इस प्रकासे जो सत्ता पूर्व में प्रकृति के सङ्ग से विपयचञ्चल थी, वह शुद्ध चिद्भाव में स्थित होकर जीवित दशा में ही संसारसिन्धु से मुक्त होजाती है। उस समय जीवन्मुक्त महापुरुष पुनर्जन्मर्याजरहित ज्ञानमय परमानन्द पद में सदा ही विश्रान्ति लाभ करते हैं। हे विप्रेन्द्रगण! मनोनाश के बाद योगारूढ पुरुष को जो प्रथम पद प्राप्त होता है सो मैंने आपके निकट वर्णन किया है, अब उसका द्वितीय पद सुनिये। द्वितीय दशा में मन से उन्मुक्त शान्तिशालिनी वह चित् सत्ता समस्त ज्योति तथा तम से मुक्त विशाल आकाश की तरह विराज-

सर्व्वज्योतिस्तमोमुक्ता विततकाशसुन्दरी।
घनसौषुप्तलेखावच्छिलान्तः सन्निवेशवत् ॥ २९ ॥
सैन्धवान्तस्थरसवद्वातान्तःस्पन्दशक्तिवत्।
कालेन यत्र तत्रैव परां परिणतिं यदा ॥ २९ ॥
शून्यशक्तिरिवाकाशे परमाकाशगा तदा।
चेत्यांशोन्मुखतां नूनंत्यजत्यम्भिव चापलम् ॥ ३० ॥
वातलेखेव चलनं पुष्पलेखेव सौरभम्।
कालताकाशते यक्त्वा सकले सकला कला ॥ ३१ ॥
न जड़ानाऽजड़ा स्फारा धत्ते सत्तामनामिकाम्।
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमहासत्तापदं गताम् ॥ ३२ ॥
तूर्यतूर्यांशकलितामकलङ्कामनामयाम्।
काञ्चिदेवविशालाक्ष साचिवत् समवस्थिताम् ॥ ३३ ॥

मान रहती है। तदनन्तर कालक्रम से गाढ़सुषुप्ति दशा के अनुभव की तरह, प्रस्तर के अन्तर्गत कठिनता की तरह ॥ २३—२८ ॥ सैन्धव के अन्तर्गत रस की तरह या वायु के अन्तर्गत स्पन्द शक्ति की तरह जब समस्त स्थिति के साररूप से अवस्थित होती है, तब वह चित् सत्ता आकाश की शून्य शक्ति की तरह परमाकाशगत होकर बाह्य विषय के प्रति उन्मुखता को एक बार ही परित्याग करके स्थिर समुद्र की तरह निश्चलरूप से अवस्थान करती है॥ २९-३० ॥ इसके अनन्तर सूक्ष्म पवन के स्पन्द त्याग की तरह, कुसुमलेखा के सौरभत्याग की तरह, कालत्व और आकाशत्व को भी परित्याग करके उन जीवन्मुक्त योगियों की सत्ता समस्त दृश्य वस्तुओं के सम्पर्क से सकल प्रकार से मुक्ति लाभ करती है। उस समय उन की सत्ता जड अजड़ दोनों भावों से मुक्त होकर एक अपरिच्छिन्न अनिर्वचनीय भाव को धारण करती है। देश काल के द्वारा उस महासत्ता का परिच्छेद नहीं होता। निष्कलङ्क, अनामय व प्रकाशमान रूप से निखिल वस्तु की प्रकाश व आनन्दसत्ता से भी उत्कृष्टतर प्रकाश व आनन्दरूप में अनिर्वचनीय विशालाक्ष होकर वह

सर्व्वतः सर्व्वदा सर्व्वप्रकाशस्वादु तत्पराम् ।
एषा द्वितीया पदता कथिता तत्र सुव्रत ॥ ३४ ॥
तृतीयं शृणु वक्ष्यामि पदं पदविदांवर ।
एषा तु चैत्यवलनादनामार्था पदं गता ॥ ३५ ॥
ब्रह्मात्मेत्यादि शब्दार्थादतीतोदेति केवला ।
स्थैर्य्येण कालतः स्वस्था निष्कलङ्का परात्मना ॥ ३६ ॥
तुर्य्यातीतादि नामत्वादपि याति परं पदम् ।
सापरा परमाकाष्ठा प्रधानं शिवभावतः ॥ ३७ ॥
चित्त्येका निरवच्छेदा तृतीया पावनीस्थितिः ।
चिरमस्यां प्रतिष्ठायां सर्व्वाध्वाध्वग दुर्गा ॥ ३८ ॥
साममाप्यङ्गवचसां न समायाति गोचरम् ।
सत्यं ब्रह्म जगच्चैकं स्थितमेकमनेकवत् ॥ ३९ ॥

साक्षि की तरह अवस्थान करती है । हे सुव्रत मुनिगण ! चित् सत्ता की यह द्वितीय अवस्था मैंने कही ॥ ३१–३४ ॥ अब तृतीय अवस्था सुनिये । इस अवस्था में वह चित्सत्ता ब्रह्माकार अखण्ड वृत्ति व क्षीर नीर की तरह ब्रह्म के साथ एक ही भाव प्राप्त होने से नाम रूप से अतीत होने के कारण ब्रह्म आत्मा इत्यादि संज्ञा से भी अतीत होकर केवल रूप से अवस्थान करता है । उस समय जीवन्मुक्त की सत्ता में किसी प्रकार का विकार न रहने से वे काल से भी स्थिर, तम से अतीत, स्वस्वरूप में निष्कलङ्क होकर तुरीयातीत आदि नाम से अतीत हो परमभाव में अवस्थान करते हैं । उनकी चित्सत्ता अपने मङ्गलभाव में सर्वप्रधान परमाकाष्ठाप्राप्त केवल चिद्रूपा, देश काल वस्तुतः अपरिच्छिन्ना व परमपवित्रा होने से तृतीय स्थानीय है । चित्सत्ता की यह अवस्था समस्त पथ और समस्त पथिक के पुरुषार्थ से दूरवर्ती होने के कारण वह मेरे भी वाक्य के गोचर नहीं होती । परन्तु यह बात सत्य है कि ब्रह्म और जगत् एक ही वस्तु है और वे अविद्या के कारण अनेक की तरह जान पड़ते

सर्वं वा सर्ववद्भाति शुद्धञ्चाऽशुद्धवत्ततम् ।
अशून्यं शून्यमिव च शून्यं वाऽशून्यवत्स्फुटम् ॥ ४० ॥
स्फारमस्फारमिवतदस्फारं स्फारसन्निभम् ।
अविकारं विकारीव समं शान्तमशान्तवत् ॥ ४१ ॥
सदेवाऽसदिवाऽदृश्यं तदेवाऽतदिवोदितम् ।
अविभागं विभागीव निर्जाड्यं जडवद्गतम् ॥ ४२ ॥
अचेत्यं चेत्यभावीव निरंशं सांशशोभनम् ।
अनहंसोऽहमिवतदनाशमिव नाशवत् ॥ ४३ ॥
अकलङ्कं कलङ्कीव निर्वेद्यं वेद्यवाद्वित् ।
आलोकिध्वान्तघनवन्नववच्च पुरातनम् ॥ ४४ ॥
परमाणोपितनु गर्भीकृत जगद्गणम् ।
सर्वात्मकमपित्यक्त दृष्टं कष्टेन भूयसा ॥ ४५ ॥
अजालमपि जालाढ्यञ्चाशेष वदनेकधा ।
निर्मायमपि मायांशुमण्डलामलभास्करम् ॥ ४६ ॥

हैं ॥ ३५–३९ ॥ वही एक ब्रह्म सर्वमय होने पर भी असर्ववत् और निर्मल होकर मलिनवत् विराजमान है। वह अशून्य होकर शून्यवत् और शून्यप्राय होकर अशून्यवत्, व्यापक होकर अव्यापकवत् और अव्यापक होकर व्यापकवत् अनुभूत होता है। वह अविकारी होकर विकारी की तरह, शान्त होकर अशान्त की तरह, सत् होकर असत् की तरह अदृश्य, और अदृश्य होकर दृश्य रूप प्रतिभात होता है। वह अविभक्त होकर विभक्त की तरह और जड़ताहीन होने पर भी जड़ की तरह प्रतीत होता है ॥ ४०–४२॥ वह ज्ञानगम्य न होने पर भी ज्ञानगम्य और अवयव हीन होकर अवयवों द्वारा सुशोभित है। वह अहंबोधशून्य होकर अहंज्ञानयुक्त, विनाशी न होकर विनाशी के तुल्य, कलङ्करहित होकर कलङ्की और इन्द्रियगोचर न होनेपर भी अविद्या के कारण इन्द्रियगोचर की तरह बोध होता है। वह प्रकाशमय होकर गाढ अन्धकार की तरह और पुरातन होकर नवीन की तरह हैं। परमाणु की अपेक्षा सूक्ष्म होने पर भी उसके गर्भ में ब्रह्माण्ड स्थित है। सर्वमय होकर

अमविद्धि विदांनाथमपामिव महोदधिम्।
जगद्रत्नमहाकोपतुलायां तूलकाल्लघु ॥ ४७ ॥
मायामरीचि शशिनमपिनेक्षणगोचरम्।
अनन्तमपि निष्पारं न च क्वचिदपि स्थितम् ॥ ४८ ॥
आकाशे वनविन्यासनगनिर्माणतत्परम्।
अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठंच स्थवीयसाम् ॥ ४९ ॥
गरीयसां गरिष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च श्रेयसामपि।
अकर्तृकर्म्मकरणमकारणमकारकम् ॥ ५० ॥
अन्तः शून्यतयैवैतच्चिराय परिपूरितम्।
जगत्समुद्गकमपि नित्यं शून्यमरण्यवत् ॥ ५१ ॥
अनन्त शैल कठिनमप्याकाशलवान्मृदु।
प्रत्येकं प्रत्यहं प्रायः पुराणं पेलवं नवम् ॥ ५२ ॥

भी वह दृश्यवस्तु से अतीत हैं। जो अनेक कष्टों से ज्ञात होता हैं। संसार जाल में पतित न होकर भी संसार जालबद्ध और अनेकधा विराजमान होकर भी अद्वितीय हैं। हे विद्वद्वर ! जिस प्रकार समुद्र वारिराशि का आधार है; उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञानसमूह का आधार है। वह स्वयं मायाशून्य होने पर भी मायारूप किरणों का प्रकाशक निर्मल सूर्य की तरह उसे जानो। वह तिनके से भी लघु होने पर जगत्‌रूपी रत्न का महाकोशस्वरूप है। वह दृष्टिगोचर न होने पर भी मायारूपी मरीचिमाला को उत्पन्न करने वाले चन्द्रमा के समान है। वह अनन्त हैं, उसका पार नहीं और न वह कहीं स्थित ही है। वह आकाश में अनेक वनराजि और पर्वत निर्माण करने में तत्पर है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से भी स्थूल हैं ॥४३-४९॥ वह गुरु से भी गुरु और श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ है। न उसका कोई कर्ता हैं, न उसने ही किसी को बनाया हैं। उसके लिये कारण और कार्य कुछ भी नहीं है ॥ ५० ॥ वह शून्यप्राय होकर उसका अन्तर निरन्तर परिपूर्ण है। वह अखिल ब्रह्माण्ड का भाण्डारस्वरूप होकर भी शून्यमय अरण्य की तरह और अनन्त पर्वतों से भी कठिन होकर आकाशखण्ड की तरह कोमल है। वह सब काल में सर्व

आलोकमन्धकाराभं तमस्त्वालोकमाततम् ।
प्रत्यक्ष मपिदुर्लक्ष्यं परोक्षमपि चाग्रगम् ॥ ५३ ॥
चिद्रूपमेव च जडं जडमेव चिदात्मकम् ।
अहमेवानहम्भावमनहं वाऽहमेव च ॥ ५४ ॥
अन्यदेवतदेवाऽहमहमेवाऽन्यदेवतत् ।
अस्यपूर्णार्णवस्यान्तरिमे त्रिभुवनोर्मयः ॥ ५५ ॥
स्फुरन्त इवतिष्ठन्ति स्वभाव द्रवतात्मकाः ।
विभर्ति सर्वमङ्गस्थं तुषारमिव शुक्लताम् ॥ ५६ ॥
भाति सर्गस्त्वनेनैव तुषारेणेव शुक्लता ।
अदेशकालावयवोऽप्येष देवोदिवानिशम् ॥ ५७ ॥
असज्जगत्तनोतीव यथा वारि तरङ्गकम् ।
एतस्मिन् विकसन्ती मा विपुलाकाश कानने ॥ ५८ ॥

वस्तुस्वरूप, कोमल, पुराण और नवभावापन्न है ॥ ५१-५२ ॥ वह आलोकमय और अन्धकारस्वरूप तथा तिमिरप्राय और सर्वव्यापक आलोकस्वरूप है। वह प्रत्यक्ष होकर दृष्टि के बहिर्भूत और सन्मुख होकर दृष्टि से दूरवर्ती है ॥ ५३ ॥ वह चिन्मय होकर जड़ और जड़ होकर चिन्मय है । अहंभाव हीन होकर अहंभावयुक्त और अहंभावयुक्त होकर अहंभावशून्य है । मैं ब्रह्म होकर भी अन्य वस्तु की तरह और अन्यवस्तुवत् होकर भी ब्रह्मस्वरूप हूं ऐसा जानना चाहिये । उस पूर्ण समुद्र के अन्तर में द्रवस्वभावयुक्त त्रिभुवनरूपी ऊर्मिमाला स्फुरित होती हुई रहती हैं । तुषार जिस प्रकार शुक्ल वर्ण धारण करता है, उसी प्रकार उसने अपनी अङ्गभूत सब वस्तुएँ धारण की हैं ॥ ५४-५६ ॥ और तुषार द्वारा जिस प्रकार शुक्लता प्रकट होती है, उस प्रकार उसके द्वारा समस्त सृष्टि प्रतिभात होती है । वही देव देश, काल और अवयव रहित होकर भी जल जिस प्रकार तरङ्गमालाओं का विस्तार करता है, उस प्रकार निरन्तर यह असत्यमय जगत् का विस्तार करता है । उस विशाल ब्रह्मस्वरूप शून्य कानन में पञ्चभूतमय

जगज्जरठमञ्जर्यः प्रसरद पत्र पञ्चकाः ।
एष स्वप्रतिबिम्बस्य स्वयमालोकनेच्छया ॥ ५९ ॥
अत्यन्त निर्मलाकारः स्वयं मुकुरतां गतः ।
व्योमवृक्षफलस्यास्य स्वेच्छावयत्र उज्ज्वलाः ॥ ६० ॥
मार्त्तण्डलम्भ उद्यच्च चमत्कुर्व्वन्ति संविदि ।
अन्तःस्थेन वहिष्ठेन नानाऽनानातयात्मानि ॥ ६१ ॥
एष सोऽन्तर्वहिर्भाति भावाभावविभावया ।
तद्रूपा पदार्थ श्री रेतस्मिन्नेतदिच्छया ॥ ६२ ॥
चमत्करोत्यतदर्थं जिह्वेव स्वास्यकोटरे ।
ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयं दृष्टा दर्शन दृश्यभूः ॥ ६३ ॥

पञ्चपल्लवान्वित जगत्सम्रह रूप जीर्ण मञ्जरियों का विकाश होता है। वह अपने प्रतिविम्ब को स्वयं देखने की अभिलाषा से अत्यन्त निर्मल दर्पण स्वयं ही बन गया । उस ब्रह्म से ही गगनवृक्ष के फल तुल्य स्वेच्छाकल्पित त्रैलोक्यरूप अङ्ग में देदीप्यमान चन्द्र सूर्य और उनसे उत्पन्न चक्षुरादि इन्द्रिय जीव के दर्शनादि विषय में चित्त को चमत्कृत कर देते हैं । वही परमात्मा आभ्यन्तरिक वासनामय प्रपञ्च और बहिःस्थित भुवन रूपमें और भीतर बाहर प्रकाशित हो रहा है । वह जाग्रत अवस्था में नानारूप और सुषुप्ति अवस्थामें नानारूपरहित इस प्रकार भावाभावमय आकार में नियत रूप से प्रकाशमान होता है । जिस प्रकार मुख में जिव्हा अपना ही रस आस्वादन कर स्वयं चमत्कृत होती है, उसी प्रकार ब्रह्मरूपिणी पदार्थशोभा ब्रह्म की इच्छा से ब्रह्म के लिये ब्रह्म में ही विस्मय उत्पन्न करती हुई रहती है * जिस से ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय; द्रष्टा, दर्शन और दृश्य, एवम् ॥ ५७–६३ ॥

---

* अद्वैत भावना युक्त स्वरूपज्ञान क्रमशः किस प्रकार उदय होता है उसका यथाक्रम वर्णन पूर्वोक्त श्लोकों में किया गया है । स्वरूपउपलब्धि होने पर भी व्युत्थान दशा हुआ करती है । इसका कारण पूर्वकथित भेद हैं । और स्वरूपज्ञान में ही सब की परिसमाप्ति है ।

कर्त्ताहेतुः क्रिया यस्मात्तस्मैज्ञप्त्यात्मने नमः।
यत्तद्व्यक्तस्थमव्यक्तं विचिन्वन्ति महर्षयः॥ ६४॥
क्षेत्रे क्षेत्रज्ञमासीनं तस्मै क्षेत्रात्मने नमः।
अपुण्यपुण्योपरमे यं पुनर्भव निर्भयाः॥ ६५॥
शान्ता सन्न्यासिनो यान्ति तस्मै मोक्षात्मने नमः।
यस्मात्सर्व्वाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः॥ ६६॥
यस्मिंश्चैव प्रलीयान्ति तस्मै हेत्वात्मने नमः।
अप्रमेय शरीराय सर्व्व तो बुद्धिचक्षुषे॥ ६७॥
अपापरमेयाय तस्मै दिव्यात्मने नमः।
परः कालात्परो यज्ञात्परात्पर तरोहि यः॥ ६८॥
अनादिरादिर्विश्वस्य तस्मैविश्वात्मने नमः।
आत्मज्ञानमिदं ज्ञानं ज्ञात्वापञ्चस्ववस्थितः॥ ६९॥
यं ज्ञानेनाऽधिगच्छन्ति तस्मै ज्ञानात्मने नमः।
महतस्तमसः पारे पुरुषं ह्यतितेजसम्॥ ७०॥

कर्त्ता, हेतु और क्रिया का विलास होता है, उसी ज्ञप्तात्मारूप परमात्मा को नमस्कार है। व्यक्त प्रकृति में अवस्थित जिस अव्यक्त सत्ता को महर्षिगण पहिचानते हैं और जो प्रत्येक क्षेत्र में क्षेत्रज्ञ रूप से विराजमान है, उसी क्षेत्रात्मारूप परमात्माको नमस्कार है। धर्म अधर्म से अतीत हो कर जन्मभयहीन शान्त सन्न्यासिगण जिस परम पुरुष को प्राप्त करते हैं उसी मोक्षात्मारूप परमात्मा को नमस्कार है। जिससे उत्पत्ति और प्रलय की सब क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं और जिसमें पुनः विलीन होजाती हैं, उस हेत्वात्मारूप परमात्मा को नमस्कार है। जिसके शरीर की तुलना नहीं है, जिसके ज्ञानरूप चक्षु सर्वत्र व्याप्त हैं और जिसका परम सत्ता का परिमाण अपार है, उस दिव्यात्मारूप परमात्माको नमस्कार है। जो काल से परे, यज्ञ से परे और पर से भी परतर है, विश्व के अनादि आदि-स्वरूप उस विश्वात्मा रूप परमात्मा को नमस्कार है। पञ्चकोशमय शरीर में अवस्थान करके आत्मज्ञान ही उसका ज्ञान है ऐसा जान

यं ज्ञात्वा मृत्युमत्येति तस्मै ज्ञेयात्मने नमः।
स्फुरन्ति शीकरा यस्मादानन्दस्याऽम्बरेऽवनौ !! ७१ ॥
सर्व्वेषां जीवनं तस्मै ब्रह्मानन्दात्मने नमः।
यस्मिन् सर्व्वं यतः सर्व्वं यः सर्व्वं सर्व्वतश्च यः ॥ ७२ ॥
यश्च सर्व्वमयो देवस्तस्मै सर्व्वात्मने नमः।
शृणुध्वं मुनयः सर्व्वे सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥ ७३ ॥
अस्याः सन्न्यासगीतायाः प्रकाशाज्जगतीतलम्।
धन्यत्वमगमत्तद्वन्नरजातिः कृतार्थताम् ॥ ७४ ॥
इयं तूपनिषद् प्रोक्ता न देया यस्यकस्यचित्।
देया तु गुरुभक्ताय सदाचारान्विताय च ॥ ७५ ॥
आस्तिकाय महाभागाः! सत्यशीलयुतायच।
अध्यापनंचाध्ययनं यत्राऽस्या जायते सदा ॥ ७६ ॥
तत्र वाग्देवताज्ञानजननी ह्युपतिष्ठते।
अध्यापयति यश्चैनां तस्याऽनेक गुणैधते ॥ ७७ ॥

कर ज्ञान की सहायता से ज्ञानीगण जिसे प्राप्त करते हैं, उस ज्ञानात्मारूप परमात्मा को नमस्कार है। घोर अविद्यान्धकार के परपार में विराजमान् महान् तेजस्वरूप जिस परम पुरुष को जानकर ज्ञानी गण मृत्यु को अतिक्रम करते हैं उसी ज्ञेयात्मा स्वरूप परमात्मा को नमस्कार है। जिस से आनन्द के कण आकाश और पृथ्वी में विस्फारित होते हैं, सकल भूतों के प्राण उसी ब्रह्मानन्दात्मारूप परमात्मा को नमस्कार है। जिसमें सब है, जिससे सब है, जो सब है, जो सब प्रकार से है और सर्वमय देव है, उस सर्वात्मा रूप परमात्मा को नमस्कार है। समस्त ऋषियों! मैं सत्य कहता हूं; सुनिये॥ ६४–७३॥ इस सन्न्यासगीता के प्रकाश से जगतीतल धन्य हुआ और मनुष्य जाति कृतार्थ हुई है यह उपनिषद्स्वरूप है। हरएक को नहीं देनी चाहिये। हे महाभाग! केवल सदाचारसम्पन्न, गुरुभक्त, आस्तिक और सत्यशील पुरुष को देनी चाहिये। इसका जहाँ सर्वदा अध्ययन और अध्यापन होता रहता है, वहां ज्ञानजननी वाग्देवता वास करती है।

विद्या प्रारब्धकर्मभ्यो महामहिमशालिनः ।
अस्यास्तु पुस्तकं यैश्च गृहस्थै दीयते मुदा ॥ ७८ ॥
ऐश्वर्यहीनं न भवेत्तद् गृहं वै कदाच न ।
पाठः प्रवर्त्तते यस्य गृहस्थस्य गृहे सदा ॥ ७९ ॥
पुस्तकस्याऽस्य तद्गेहं धनधान्ययुतं भवेत् ।
विदुषी जायतेऽवश्यं तदीया सन्ततिः सदा ॥ ८० ॥
वानप्रस्थगणश्चास्याः पाठेन लभते ध्रुवम् ।
पराकाष्ठां तपस्यायाः स्वस्या ज्ञानपरायणः ॥ ८१ ॥
सन्न्यासिनां तु गीतेयं सर्वसिद्धिकरी मता ।
यदि सन्न्यासिनो ह्यस्याः पाठं कुर्य्युर्निरन्तरम् ॥ ८२ ॥
तापत्रयविनिर्मुक्ता लभन्ते मुक्तिमुत्तमाम् ।
तथैव परभक्तेस्ते लाभेत्रै परमात्मनः ॥ ८३ ॥
आत्मज्ञानस्य प्राप्तौ च भवेयुरधिकारिणः ।
ऋषिश्रेष्ठाः ! अहं मन्त्रं ओंतत्सदिति संपठन् ॥ ८४ ॥
समाप्तिं प्रापयामीमं ब्रह्मयज्ञं महत्तमम् ।
यज्ञे ब्रह्मणि च ज्ञेयो न भेदोऽणुरपि क्वचित् ॥ ८५ ॥

जो इसे पढ़ाता है, उस महान् महिमाशाली पुरुष की विद्या प्रारब्ध कर्म की अपेक्षा अनेक गुण अधिक बढ़ती है ॥ ७४–७७ ॥ इस गीता की पुस्तक जिन गृहस्थों द्वारा प्रदान की जायगी, उनका गृह कभी ऐश्वर्यहीन नहीं होगा। जिस गृहस्थ के घर सदा इस पुस्तक का पाठ पढ़ाया जायगा, उसका घर धन धान्य युक्त रहेगा। और उसकी सन्तति अवश्य ही विद्वान् होगी ॥ ७८–८० ॥ ज्ञान परायण वानप्रस्थगण इसके पाठ से अपनी तपस्या की पराकाष्ठा को प्राप्त करेंगे ॥ ८१ ॥ सन्न्यासियों के लिये यह गीता सर्वसिद्धिकरी कही गई है। यदि सन्न्यासि गण इसका निरन्तर पाठ करें तो तापत्रय से मुक्त होकर वे उत्तम मुक्ति लाभ कर सकेंगे। इसी प्रकार पराभक्ति, परमात्मा और आत्मज्ञान की प्राप्ति के वे अधिकारी बनेंगे। हे ऋषिश्रेष्ठों ! अब मैं ॐ तत्सत् इस मन्त्र को कह कर इस ब्रह्मयज्ञ को समाप्त करता हूं। यज्ञ और ब्रह्म में अणुमात्र भी

अतन्ता ईरिता यज्ञा ऋषिभिस्तत्व दर्शिभिः ।
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथैव च ॥ ८६ ॥
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च कर्मयज्ञा अपि ध्रुवम् ।
ब्रह्मप्राप्तिनिदानत्वात् सर्व्वे ब्रह्ममया इमे ॥ ८७ ॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्म्मजान् विद्धि तान्सर्व्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ८७ ॥
ब्रह्माऽर्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माऽग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म्म समाधिना ॥ ८९ ॥

इति श्रीसन्यासगीतायां आत्मस्वरूपनिरूपणं
नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

भेद नहीं जानना चाहिये ॥ ८२–८५ ॥ तत्त्वदर्शी मुनियों ने अनन्त यज्ञ कहे हैं । यथा द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञान यज्ञ, कर्मयज्ञ इत्यादि । ये सभी ब्रह्मप्राप्ति के कारणस्वरूप होने से ब्रह्ममय हैं ॥ ८६ – ८७ ॥ इस प्रकार के बहुत से यज्ञ वेदों में कथित हैं । उन सबको कर्म से उत्पन्न हुए समझो । यह जानकर मुक्त हो जाओगे । ब्रह्म में अर्पण है, ब्रह्म ही हवि है, ब्रह्मरूपी अग्नि में ब्रह्म ने ही हवन किया है और ब्रह्मकर्म की समाधि से ब्रह्मद्वारा ब्रह्म ही प्राप्तव्य है * ॥ ८८–८९ ॥

इस प्रकार श्रीसन्न्यासगीता का आत्मस्वरूप निरूपण नामक द्वादशाध्याय समाप्त हुआ ॥

---

* निवृत्ति धर्म की पूर्णता को प्राप्त करके वास्तव में निष्क्रिय हो कर ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त करना ही सन्न्यास है । सन्न्यास और भगवत्सायुज्य एक ही विषय है । यथार्थ सन्न्यासी मूर्तिमान् ब्रह्म है, ऐसे धर्म की प्रकाशक सन्न्यासगीता भी ब्रह्म स्वरूप है, इसमें सन्देह नहीं । इसी कारण ऐसे वचन के द्वारा इस गीता की परिसमाप्ति की गई है । वास्तव में जब जीवन्मुक्त महापुरुष वासनाक्षय और स्वरूप की उपलब्धि द्वारा ब्रह्मरूप हो जाता है उस समय उसके लिये कारण ब्रह्म रूपी स्वस्वरूप और कार्य ब्रह्मरूपी यज्ञ की सब सामग्रियां दोनों एक अद्वैत भाव में ब्रह्मरूप ही होंगी इसमें सन्देह ही क्या है ?

महामण्डल ग्रन्थ माला।

धर्म प्रचार के लिये सुलभ दो ही मार्ग हैं। (१) उपदेशकों द्वारा धर्म प्रचार करना, और (२) धर्म रहस्य सम्बन्धी मौलिक पुस्तकों का उद्धार व प्रकाश करना। महामण्डल ने प्रथम मार्ग का अवलम्बन आरम्भ से ही किया है और अब तो उपदेशक महाविद्यालय स्थापित कर महामण्डल ने वह मार्ग स्थिर और परिष्कृत कर लिया है। दूसरे मार्ग के सम्बन्ध में भी यथा योग्य उद्योग आरम्भ से ही किया जा रहा है। विविध ग्रन्थों का संग्रह और निर्माण करना, मासिक पत्रिकाओं का सञ्चालन करना, शास्त्रीय ग्रन्थों का आविष्कार करना, इस प्रकार के उद्योग महामण्डल ने किये हैं और उनमें सफलता भी प्राप्त की है। परन्तु अभी तक यह कार्य सन्तोष जनक नहीं हुआ है। महामण्डल को अब मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त होते ही इस विभाग को उन्नत करने का उसने विचार किया है। उपदेशकों द्वारा जो धर्म प्रचार होता हैं उसका प्रभाव चिरस्थायी होने के लिये उसी विषय की पुस्तकों का प्रचार होना परम आवश्यक है। क्योंकि वक्ता एक दो बार जो कुछ सुना देगा, उसका मनन बिना पुस्तकों का सहारा लिये नहीं हो सकता। इसके सिवा सब प्रकार के अधिकारियों के लिये एक ही वक्ता कार्यकारी नहीं हो सकता। पुस्तक प्रचार द्वारा यह काम सहल हो जाता है। जिसे जितना अधिकार होगा, वह उतने ही अधिकार की पुस्तक पढ़ेगा और महामण्डल भी सब प्रकार के अधिकारियों के योग्य पुस्तकें निर्माण करेगा। सारांश, देश की उन्नति के लिये, भारत गौरव की रक्षा के लिये और मनुष्यों में मनुष्यत्व उत्पन्न करने के लिये महामण्डल ने अब पुस्तक प्रकाशन विभाग को अधिक उन्नत करने का विचार किया है और उसकी सर्वसाधारण से प्रार्थना है कि वे ऐसे सत्कार्य में इसका हाथ बटावें एवम् इसकी सहायता कर अपनी ही उन्नति कर लेने को प्रस्तुत हो जावें।

जो पुस्तक-मालाएँ महामण्डल से प्रकाशित होंगी; उनके कम से कम २००० स्थायी ग्राहक होने चाहिये। उन्हें सब पुस्तकें कुछ स्वल्प मूल्य में दी जायँगी। यदि हर एक व्यक्ति १०-१५ भी ग्राहक

संग्रह कर देगा तो यह काम सहज हो सकता है।

जो सभा या जो प्रचारक सर्वोत्तम कार्य करेंगे, अर्थात् ग्रन्थ प्रचार कार्य में अधिक सफलता प्राप्त करेंगे, उन्हें श्रीमहामण्डल के वार्षिकोत्सव पर विशेष पारितोषिक द्वारा, मेडल आदि द्वारा और अन्य प्रकार से भी कार्य के महत्व के अनुसार सम्मानित किया जायगा।

स्थिर ग्राहकों के नियम।

इस समय हमारी ग्रन्थमालामें निम्न लिखित पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

मंत्रयोगसंहिता	१)	कल्किपुराण	१)
भक्तिदर्शन	१)	उपदेश पारिजात (संस्कृत)	॥)
योगदर्शन	२)	भारतधर्ममहामण्डल रहस्य	१)
नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत	१)	गीतावली	॥)

धर्मकल्पद्रुम प्रथम खण्ड २) द्वितीय खण्ड १॥)

तृतीय खण्ड २)

इनमें से जो कम से कम ४) मूल्य की पुस्तकें खरीदेंगे अथवा स्थिर ग्राहक होने का चन्दा १) भेज देंगे, उन्हें शेष और आगे प्रकाशित होने वाली सब पुस्तकें ¾ मूल्य में दी जायंगी।

स्थिर ग्राहकों को माला में ग्रथित होने वाली हर एक पुस्तक खरीदनी होगी। जो पुस्तकें इस विभाग द्वारा छापी जायगी, वह एक विद्वानों की कमेटी द्वारा पसन्द करा ली जायगी। जिससे किसी पुस्तक की मौलिकता में ग्राहकों को सन्देह न रह जाय।

हर एक ग्राहक अपना नम्बर लिख कर या दिखा कर हमारे कार्यालय से, अथवा जहां वह रहता हो वहां हमारी शाखा हो तो वहां से, स्वल्प मूल्य पर पुस्तकें खरीद सकेगा।

जो धर्म्म सभा इसी धर्म्म कार्य्य में सहायता करना चाहे और जो सज्जन इस ग्रन्थमाला के स्थायी ग्राहक होना चाहें वे मेरे नाम पत्र भेजने की कृपा करें।

गोविन्द शास्त्री दुगवेकर,
अध्यक्ष शास्त्रप्रकाश विभाग।
श्रीभारतधर्ममहामण्डल प्रधान कार्य्यालय,
जगतगंज, बनारस।

सर्वोपयोगी पुस्तकें ।

सदाचारसोपान	मूल्य -) एक आना ।
ब्रह्मचर्य्याश्रम	मूल्य ।) चार आना ।
धर्म्मसोपान	मूल्य ।) चार आना ।
शास्त्रसोपान	मूल्य ।) चार आना ।
साधनसोपान	मूल्य ≈) दो आना ।
राजशिक्षासोपान	मूल्य ≈)तीन आना ।
कन्याशिक्षासोपान	मूल्य -) एक आना ।
धर्मप्रचारसोपान	मूल्य ≡) तीन आना ।

अन्यान्य धर्म्मपुस्तकोंकी सूची नीचेलिखे पतेसे मंगाकर देखें ।

मैनेजर—निगमागम बुक्डिपो
श्रीभारतधर्म्म महामण्डल प्रधान कार्य्यालय—
जगत्‌गंज, बनारस (छावनी)